से पीड़ित रहे हैं। कोई अपने विशेष अंग की विकलता के कारण अपने शैशव-सहचरों की तुलना में अपने को शारीरिक रूप से असमर्थ पाकर अपनी हीनता की अनुभूति से दबता रहा है, कोई अपने सारे शरीर की दुर्बलता के कारण खेल-कूद की प्रतियोगिता में अपने साथियों से पिछड़ा रहा है, कोई अपने परिवार में अपने दूसरे भाई-बहनों की तुलना में अपने को उपेक्षित पाकर अपने अज्ञात में किसी-न-किसी उपाय से छटपटाता रहा है। इस प्रकार शारीरिक तथा पार्थिव क्षेत्र की प्रतियोगिता में हार मान कर मानसिक तथा आध्यात्मिक जगत् में सबसे बाजी मार ले जाने की व्याकुलता उसमें अत्यन्त प्रबल रूप से वर्तमान रही है। वस्तुजगत् में पराजित होने के कारण उसके जीवन की साधना अन्तर्मुखी हो जाती है, और वह अपने भीतर की सारी शक्ति को एक काल्पनिक लोक की विजय-यात्रा के लिए नियन्त्रित करने लगता है। जो कवि अपनी हीनता और पार्थिव असमर्थता की भावना से जितना अधिक त्रस्त रहता है, उसकी यह छाया-जगत् की विजययात्रा भी उतनी ही दीर्घ होती है। जिस प्रकार सिकन्दर की पार्थिव विजयाकांक्षा ने अदम्य और अशेष रूप धारण कर लिया था, उसी प्रकार अत्यधिक आत्मग्लानि की भावना से पीड़ित कवि अनन्त छाया लोक पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए विकल हो उठता है। हमारे अधिकांश छायावादी कवियों में भी यह प्रतिद्वन्द्विता स्पष्ट रूप से पाई जाती है कि अनन्त छायालोक में कौन कवि अपने छाया राज्य की सीमा को दूसरों से अधिक बढ़ा सकता है।

आडलर ने केवल यही नहीं कहा है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी शारीरिक अथवा पारिपार्श्विक परिस्थिति-जनित हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए उत्सुक रहता है, बल्कि उसने जिस बात पर विशेष रूप से ज़ोर दिया है, वह यह है कि प्रत्येक हीनताग्रस्त व्यक्ति अतिरिक्त क्षति पूर्ति चाहता है। उदाहरण के लिए, जो व्यक्ति बचपन में अत्यन्त क्षीण-शरीर और रुग्ण होता है, वह यदि विशेष अनुभूति शील हुआ तो केवल अपने स्वास्थ्य को सुधार कर ही सन्तोष प्राप्त करना नहीं चाहेगा बल्कि एक तगड़ा और हृष्ट-पुष्ट पहलवान बनकर कुश्ती में सबको हराना चाहेगा। इस प्रकार वह केवल अपनी जन्म-जात शारीरिक क्षति की पूर्ति ही नहीं करता, बल्कि दंगलबाज बन कर अतिरिक्त क्षतिपूर्ति भी करता है। यही बात हमारे छायावादी कवियों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वास्तविक जगत में अपनी निपट

प्रकाशकीय

श्री इलाचन्द्र जोशी हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं प्रतिनिधि लेखक ही नहीं अपितु कुशल समीक्षक भी हैं। विवेचना आपके उन्नीस चुने हुए आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। इनके माध्यम से हमें आधुनिक हिन्दी साहित्य की विभिन्न गतिविधियों का यथातथ्य परिचय प्राप्त होता है। इनमें हमें चिन्तन एवं अनुशीलन की एक नूतन पद्धति परिलक्षित होती है।

विवेचना में श्री जोशी जी का अपना एक नवीन दृष्टिकोण है। आशा है, हिन्दी प्रगति इस नये दृष्टिकोण का स्वागत करेगा। ये समीक्षाएँ अपने आलोचना-साहित्य की स्थायी निधि होंगी, ऐसा हमें विश्वास है।

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल',

साहित्य मंत्री,

विजयादशमी
संवत् २००५

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

—:※:—

वर्तमान निबन्ध संग्रह में मेरे सन् '२७ से लेकर सन् ४८' तक के अर्से में लिखे गये विविध साहित्यिक लेख संकलित हैं। इस दीर्घ कालांतर के फलस्वरूप ऊपरी दृष्टि से कुछ लेखों की पारस्परिक तुलना करने पर उनमे संभवतः कुछ विरोधाभास दिखाई दे। पर व्यापक और भीतरी दृष्टि से देखने पर यह भ्रम सहज ही में मिट जायगा, ऐसी आशा करता हूं। कथा-साहित्य के संबन्ध में जितने भी निबन्ध इसमें संकलित हैं वे सब एक ही विषय के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि में रख कर लिखे गए हैं। मेरी इच्छा थी कि इसी विषय के और भी अनेक भिन्न-भिन्न पहलुओं को लेकर दस-पंद्रह निबन्ध और इसमें जोड़ पाता। क्योंकि मैं कथा-साहित्य को बहुत गभीर, महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक विषय मानता हूँ। कलात्मक साहित्य के इस विभाग के सम्बन्ध में जैसी भयकर गलतफहमियाँ, जैसी घोर अज्ञता हिन्दी के वर्तमान आलोचना-साहित्य में पायी जाती है वह अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से शोचनीय है। इसलिये इस विषय की यथार्थता को और अधिक विशद रूप से समझाने का प्रयत्न करने की उत्कट इच्छा मेरे मन में सदा रही है। पर पुस्तक के अधिक बढ़ जाने के भय से अपनी इस इच्छा की पूर्ति पूर्णरूपेण करने मे असमर्थ रहा। फिर भी इस विषय से सम्बन्धित जितने लेख वर्तमान संग्रह में दे पाया हूँ, उनसे व्यापक रूप से फैली हुई गलतफहमियाँ किसी हद तक दूर हो सकेगी, ऐसी विनम्र आशा रखता हूँ।

'प्रेत और छाया' की भूमिका मैंने वर्तमान संकलन मे जोड़ दी है, क्योंकि इस भूमिका को मैं उपन्यास-कला के नये दृष्टिकोण तथा मेरे अपने भी उपन्यासों की दिशा को समझने के लिए बहुत आवश्यक समझता हूँ।

अपने प्रगतिवादी बन्धुओं से मेरा निवेदन है कि वे अपने रूढ़िवादी दृष्टिकोण की हठधर्मिता त्याग कर सूक्ष्म विचारपूर्वक मेरे निबन्धों को पढ़ें और उसका यथार्थ मर्म समझने का प्रयत्न करें। उन्हे एकागीय दृष्टि से न पढ़ कर उसके भीतर समन्वित विविध पहलुओं की बारीकियो पर भी विचार करें, यदि वे विरोधी संस्कारों का चश्मा उतार कर ईमानदारी से उनके भीतर निहित भावों को समझने का प्रयत्न करेंगे तो वे मेरे उस नये—समन्वयात्मक—प्रगतिवादी दृष्टिकोण से ठीक तरह से परिचित हो जावेंगे, जो किसी भी अर्थ में प्रतिक्रियावादी नही है, बल्कि सच्ची प्रगति मे रूढ़िवादी प्रगतिवाद से बहुत आगे बढ़ा हुआ है, और जिसका वास्तविक बाह्य प्रगति से कोई विरोध नहीं है, बशर्ते वह अन्तर्प्रगति को आधार रूप में अपनाये हुए हो। यदि वे जान-बूझ कर प्रगतिवाद के नाम पर संस्कृति के क्षेत्र में १०० वर्ष पुरानी मार्क्सीय रूढ़िवादिता को अपनावें और यथास्थित्यात्मक दृष्टिकोण का

अनुसरण करना चाहें, तो यह उनकी खुशी है; इसका उन्हें पूरा अधिकार है। पर यदि वे सच्चे हृदय से यह मानते और चाहते हैं कि साहित्य के नाम पर किसी भी मनःविश्लेषणात्मक जंजाल में (चाहे वह आज है या कभी न हो) फँसाये रहना और गुर्णना है, तो मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि वे शौक से प्रगतिवाद का अनुसरण करें, जिसमें वास्तविक बाह्य प्रगति तथा आंतरिक प्रगति के समान-समन्वयात्मक-रूप से अपनाया गया है। कई वर्षों से विविध निबन्धों द्वारा मैं जिस महत्वपूर्ण नये प्रगतिशील दृष्टिकोण के समर्थन का प्रयत्न करता आ रहा हूँ, उसी संयत रूप में समस्तों का सुयोग उन्हें पुस्तकाकार में एकत्रित वर्तमान निबन्धों द्वारा मिल सकेगा। (यदि वे सच्चाई चाहते हों) इन निबन्धों से यह महत्वपूर्ण तथ्य उनके आगे स्पष्ट हो जायगा कि आज के भयंकर रूप से अस्त-व्यस्त युद्धोत्तर (तथा युद्धपूर्व)—कालीन वर्तमान विश्व की व्यापक बाह्य समस्याओं का समाधान यथार्थ रूप से तभी हो सकेगा जब उनको भौतिक इतिहास-धारा को विश्व की अंतर्गत प्रगति-धारा की विराट पृष्ठ-भूमि से सम्बद्ध किया जाय। और तभी यह रहस्य भी उनके आगे उद्घाटित हो जायगा कि बाह्य प्रगति तथा अन्तःप्रगति का पारस्परिक सम्बन्ध-बिंश शताब्दी के महा क्रांतिकारी वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के 'स्पेस-टाइम कन्टिन्यूअम' के सिद्धान्त के अनुसार देश और काल के अविच्छिन्न तथा अनिवार्य रूप से अन्योन्याश्रित (और सापेक्षिक) सम्बन्ध की तरह है। इनमें से एक के सापेक्षिक आधार के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

यदि मेरे वर्तमान निबन्धों द्वारा रूढ़िवादी प्रगतिवाद तथा नये प्रगतिवाद के बीच कुछ भी समझौता हो सका तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

शुक्ला एकादशी,

आषाढ़ २००५,

इलाचंद्र जोशी

भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की परम्परा

सभ्यता के आदिम काल—वैदिक युग—में जब मनुष्य दल बाँध कर रहना सीख गया और हिंस्र जन्तुओं से अपनी रक्षा के लिए सुरक्षित गृहों का निर्माण करके खेती बारी द्वारा अपनी जीविका का निश्चित उपाय उसे मालूम हो गया, तो उसने अवकाशपूर्वक अपनी चारों ओर की प्रकृति पर कौतूहली दृष्टि डाली। पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश की निखिलव्यापी रहस्यमयता देखकर वह स्तब्ध रह गया, और उसके शिशुजनोचित हृदय मे एक अपूर्व संभ्रम और श्रद्धा का भाव हिल्लोलित हो उठा। वह स्वतःस्फूर्त हिलोर उसके अन्तस्तल से ऊपर उमड़कर, उसका कण्ठ भेद कर, वाणी के रूप में बाहर निकल पड़ी। वेदों में सूर्य, उषा, अग्नि, मरुत्, वरुण आदि की वन्दनाओं के रूप में जो कविताएँ हम पाते हैं, वे प्राकृतिक शक्तियों की अपार रहस्यमयी मोहिनी से मुग्ध शिशु-भावापन्न प्राथमिक कवियों की वही अस्फुट कल-काकली है। शिशुओं की उल्लसित किलकारी जिस हद तक हमें प्रिय मालूम होती है, उसी रूप में और उसी सीमा तक वैदिक कविता भी हमें प्रिय लगनी चाहिए।

उसके बाद सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ कुछ ऐसे वीर और प्रतापी लोगों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने विस्तृत भूखण्डो पर अपना अधिकार जमाकर उन्हें एक सुसंगठित और सुसंगत राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित रूप दिया। इन प्रतापी वीरों की असाधारण प्रतिभा से प्रभावित होकर जनता उन्हें लोकोत्तर पुरुष समझने लगी, और उनके जीवन को लेकर तरह-तरह की लोक-कथाएँ प्रचलित होने लगीं। बाद में कुछ ऐसे कवि उत्पन्न हुए, जिन्होंने उन लोक-कथाओं के आधार पर महाकाव्य रच डाले। इन महाकाव्यों के कवि वैदिक काल के कवियों की तरह शिशु-भावापन्न नहीं रह गये थे। प्राकृतिक शक्तियां अब भी उनके लिए बहुत-कुछ रहस्यमयी थी, सन्देह नही; पर अब वे उनके रात-दिन के

जीवन की साथी बन गई थीं। इसके अतिरिक्त इस बीच मानव-जीवन ने ऐसे सघन और जटिल सामाजिक रूप धारण कर लिये थे कि प्रकृति की अपेक्षा समाज तथा समस्याओं ने कवियों को अधिक आकर्षित किया।

भाव-वेदनात्मक कविता का बीज वैदिक काल में ही साहित्य की मिट्टी में पड़ चुका था। उसका प्रथम वास्तविक प्रस्फुटन वीरगाथा-काल के प्रारम्भिक युग में हुआ, जब वियोगानुभूति-पीड़ित कवि के मुख से क्रौंच-मिथुन में से एक की हत्या देखकर बरबस यह आह निकल पड़ी:—

मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस भाव के प्रस्फुटन से बाह्य प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की अन्तः प्रकृति की ओर कवियों का झुकाव अधिक होने लगा। मनुष्य का भाव-जगत् उन्हें उतना ही रहस्यमय मालूम होने लगा जितना आदिम काल के कवि को प्राकृतिक जगत्। जिस प्रकार आदिम काल के कवि बाह्य प्रकृति के स्थूल तत्त्वों की आराधना में संलग्न रहे, उसी प्रकार बाद के कवि अन्तःप्रकृति के स्थूल तत्त्वों—प्रेम, करुणा, हिंसा आदि—के गुणगान की ओर प्रवृत्त हुए। रसानुभूतिमयी भाव-धारा वैदिक काल से लेकर वीर-काल तक साहित्यसागर की ऊपरी सतह पर तैरती रही। बाद में, बौद्ध युग के ठीक पूर्वकाल में, उसने ऐसा व्यापक रूप धारण किया कि प्रेम, करुणा, विरह-मिलन-सम्बन्धी व्यक्तिगत भावनामयी कविताओं की बाढ़ सी आ गई। उस बाढ़ ने एक ऐसी अस्वास्थ्यकर विलासिता से समाज को मोहाच्छन्न कर दिया कि उसकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप बौद्ध धर्म के रूप में एक प्रकार का नकारात्मक प्रगतिवादी आन्दोलन चल पड़ा। इस आन्दोलन ने उस साहित्य का घोर विरोध किया, जिसमें व्यक्तियों की निजी सुख-दुःख की भावनाओं का मथन बड़े जोरों से हो रहा था। इस युग के आलोचकों ने बताया कि कवियों को व्यक्तिगत अनुभूतियों को तनिक भी महत्त्व न देकर, संघ के सामूहिक कल्याण की भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य सृजन करना चाहिए। पर यह आन्दोलन अधिक समय तक सफल न हो सका और व्यक्तियों की निजी स्वतन्त्र अनुभूतियों पर लगाए गए बन्धन धीरे-धीरे टूटने लगे। बौद्ध युग में ही इस विद्रोह के लक्षण

स्पष्ट दिखाई देने लगे। थेरीगाथाओं में स्थविरा कवयित्रियों के दमित आवेगों का केवल विस्फोट होने से रह गया है।

गुप्त-काल के समृद्ध युग में रोमांटिक भाव-धारा का प्रवेग फिर से परिपूर्णता को प्राप्त हुआ। इस कोटि की कविता की सबसे श्रेष्ठ कृति 'मेघदूत' की रचना इसी काल में हुई। इस काव्य में कवि ने अपनी अत्यन्त परिष्कृत सौन्दर्यानुभूति के तार से बाह्य प्रकृति की सुन्दरता को अन्तःप्रकृति की रागात्मिका प्रवृत्ति से जोड़ कर एक निराली रस-मयी सर्जना की है। कालिदास की इस रचना को मैं सुसंस्कृत सामन्त युग की उन्नत साहित्य-कला का चरम निदर्शन मानता हूँ। ऐसी परिमार्जित सौन्दर्यानुभूति आपको संस्कृत-साहित्य के किसी भी युग में नहीं मिलेगी। यदि सौन्दर्यानुभूति का उद्बोधन ही काव्य-कला का एक मात्र उद्देश्य मान लिया जाय, तो 'मेघदूत' निस्सन्देह संसार-साहित्य की समस्त काव्य-रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगा। पर आज का आलोचक इस मापदण्ड को साहित्य और कला की एक मात्र कसौटी मानने के लिए तैयार नहीं है। वह केवल-मात्र सौन्दर्यानुभूति के विकास को व्यक्ति के स्वार्थगत विलास और समाज के मूलगत ह्रास का कारण समझता है। इस विषय पर हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। यहाँ पर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि कालिदास के युग में कवियों का सौन्दर्य-बोध पराकाष्ठा को पहुँच चुका था, और सामन्तवादी शासकवर्ग एक मात्र उसी के विकास के प्रयास में कवियों तथा लेखकों को संलग्न रखने की पूरी चेष्टा करता था, जिसका फल यह होता था कि जिन लोगों के हाथ में जनता का बौद्धिक संचालन करने और उसे अपनी यथार्थ राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का बोध कराने का भार न्यस्त था, वे केवल ऐसी सौन्दर्यानुभूति के अनुशीलन में उलझ कर रह गए जिसका सम्बन्ध संघर्षमय मानव-जीवन की समस्याओं के साथ लेश-मात्र भी नहीं था। ऐसी दशा में वे जनता को क्या शिक्षा दे सकते थे? फिर भी कालिदास के समान दो-एक प्रतिभाशाली और क्रान्तदर्शी कवि उस युग में भी ऐसे रहे, जो सौन्दर्यानुभूति के सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण का मोह न त्याग सकने पर भी अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उदासीन न रहे। कालिदास को युग की विवशता के अनुसार अपने युग के किसी एक विशेष प्रतापी राजा का तत्त्वावधान स्वीकार करना पड़ा था, सन्देह नहीं; और, स्वभावतः

जीवन की साथी बन गई थीं। इसके अतिरिक्त इस बीच मानव-जीवन ने ऐसे सघन और जटिल सामाजिक रूप धारण कर लिये थे कि प्रकृति की अपेक्षा समाज तथा समस्याओं ने कवियों को अधिक आकर्षित किया।

भाव-वेदनात्मक कविता का बीज वैदिक काल में ही साहित्य की मिट्टी में पड़ चुका था। उसका प्रथम वास्तविक प्रस्फुटन वीरगाथा-काल के प्रारम्भिक युग में हुआ, जब वियोगानुभूति-पीड़ित कवि के मुख से क्रौंच-मिथुन में से एक की हत्या देखकर बरबस यह आह निकल पड़ी:—

मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥

इस भाव के प्रस्फुटन से बाह्य प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की अन्तःप्रकृति की ओर कवियों का झुकाव अधिक होने लगा। मनुष्य का भाव-जगत् उन्हें उतना ही रहस्यमय मालूम होने लगा जितना आदिम काल के कवि को प्राकृतिक जगत्। जिस प्रकार आदिम काल के कवि बाह्य प्रकृति के स्थूल तत्त्वों की आराधना में संलग्न रहे, उसी प्रकार बाद के कवि अन्तःप्रकृति के स्थूल तत्त्वों—प्रेम, करुणा, हिंसा आदि—के गुणगान की ओर प्रवृत्त हुए। रसानुभूतिमयी भाव-धारा वैदिक काल से लेकर वीर-काल तक साहित्यसागर की ऊपरी सतह पर तैरती रही। बाद में, बौद्ध युग के ठीक पूर्वकाल में, उसने ऐसा व्यापक रूप धारण किया कि प्रेम, करुणा, विरह-मिलन-सम्बन्धी व्यक्तिगत भावनामयी कविताओं की बाढ़ सी आ गई। उस बाढ़ ने एक ऐसी अस्वास्थ्यकर विलासिता में समाज को आच्छन्न कर दिया कि उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्ध धर्म के रूप में एक प्रकार का नकारात्मक प्रगतिवादी आन्दोलन चल पड़ा। इस आन्दोलन ने उस साहित्य का घोर विरोध किया, जिसमें व्यक्तियों की निजी सुख-दुःख की भावनाओं का मथन बड़े जोरों से हो रहा था। इस युग के आलोचकों ने बताया कि कवियों को व्यक्तिगत अनुभूतियों को तनिक भी महत्त्व न देकर, संघ के सार्वजनिक कल्याण की भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य सृजन करना चाहिए। पर यह आन्दोलन अधिक समय तक सफल न हो सका और कवियों की निजी स्वतन्त्र अनुभूतियों पर लगाए गए प्रतिबन्ध शीघ्र ही टूटने लगे। बौद्ध युग में ही इस विद्रोह के लक्षण

स्पष्ट दिखाई देने लगे। वीरगाथाओं में स्वचित राजवंशियों के दमित आवेगों का केवल विस्फोट होने से रह गया है।

गुप्त-काल के स्वर्ण युग में रोमांटिक भाव-धारा का प्रवेग फिर से परिपूर्णता को प्राप्त हुआ। इस कोटि की कविता की सबसे श्रेष्ठ कृति 'मेघदूत' की रचना इसी काल में हुई। इस काव्य में कवि ने अपनी अत्यन्त परिष्कृत सौन्दर्यानुभूति के भार से बाह्य प्रकृति की सुन्दरता को अन्तःप्रकृति की रागात्मिका प्रवृत्ति से जोड़ कर एक निराली रस-मयी सर्जना की है। कालिदास की इस रचना को मैं गुप्तकालीन सामन्त युग की उन्नत साहित्य-रचना का चरम निदर्शन मानता हूँ। ऐसी परिमार्जित सौन्दर्यानुभूति आपको संस्कृत-साहित्य के किसी भी युग में नहीं मिलेगी। यदि सौन्दर्यानुभूति का उद्बोधन ही काव्य-कला का एक मात्र उद्देश्य मान लिया जाय, तो 'मेघदूत' निस्सन्देह संसार-साहित्य की समस्त काव्य-रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगा। पर आज का आलोचक इस मापदण्ड को साहित्य और कला की एक मात्र कसौटी मानने के लिए तैयार नहीं है। वह केवल-मात्र सौन्दर्यानुभूति के विकास को व्यक्ति के स्वाभाविक विकास और समाज के क्रमागत ह्रास का कारण समझता है। इस विषय पर हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। यहाँ पर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि कालिदास के युग में कवियों का सौन्दर्य-बोध पराकाष्ठा को पहुँच चुका था, और सामन्तवादी शासकवर्ग एक मात्र इसी के विकास के प्रयास में कवियों तथा लेखकों को संलग्न रखने की पूरी चेष्टा करता था, जिसका फल यह होता था कि जिन लोगों के हाथ में जनता का बौद्धिक संचालन करने और उसे अपनी यथार्थ राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का बोध कराने का भार न्यस्त था, वे केवल ऐसी सौन्दर्यानुभूति के अनुशीलन में उलझ कर रह गए, जिसका सम्बन्ध संघर्षमय मानव-जीवन की समस्याओं के साथ लेश-मात्र भी नहीं था। ऐसी दशा में वे जनता को क्या शिक्षा दे सकते थे? फिर भी कालिदास के समान दो-एक प्रतिभाशाली और क्रान्तदर्शी कवि उस युग में भी ऐसे रहे, जो सौन्दर्यानुभूति के सूक्ष्म से-सूक्ष्म विश्लेषण का मोह न त्याग सकने पर भी अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उदासीन न रहे। कालिदास को युग की विवशता के अनुसार अपने युग के किसी एक विशेष प्रतापी राजा का तत्त्वावधान स्वीकार करना पड़ा था, सन्देह नहीं; और स्वभावतः

सामन्तवादी नीति का गुणानुवाद भी उन्होंने प्रकट रूप से किया है। पर परोक्ष रूप से उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने युग के राजन्यवर्ग के प्रति व्यंग के छींटे कसे हैं; और 'रघुवंश' में दिलीप, अज और रघु के त्याग और तपस्या का वर्णन करके, यह जताकर कि वे राजागण अपने को अपने वृहत् प्रजा-परिवार का एक कर्त्तव्यनिष्ठ सदस्य-मात्र समझते थे—'स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः" इस प्रकार की उक्तियों से अपने युग के विलासी, प्रजापीड़क और अत्याचारी राजाओं को यथेष्ट शिक्षा देने की चेष्टा की है। 'रघुवंश' के अन्तिम सर्ग में राजा अग्निमित्र की अत्यधिक विलासमग्नता का ज्वलन्त वर्णन करके कालिदास ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि इस प्रकार की आत्मविलासिता चाहे कैसी हो काव्यमय क्यों न हो, वह घोर अम्वास्थ्यकर, मृत्युवाहक और आत्म-विनाशकारी होती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में निपट मूर्ख, गोबर-बुद्धि, हस्ति-उदर और पेटू विदूषक को राजा का प्रिय सहचर बना कर अपने युग के सामन्तों का जैसा तीव्र परिहास कालिदास ने किया है, वह अनन्य है। यह माना कि किसी विदूषक को राजा का सहचर बनाने की प्रथा उस युग की नाट्य-रचनाओं में प्रचलित थी; पर कालिदास ने इस गतानुगतिकता को एक सजीव और समूर्त्त रूप देकर तत्कालीन राज-समाज की आत्मलीनता पर व्यंग और परिहास द्वारा ऐसा तीव्र मर्माघात किया है, जो कभी भूला नहीं जा सकता। उनका विदूषक केवल विदूषक ही नहीं, राजा का परम प्रिय सखा है; राजा घोर संकट के क्षणों में भी उस पेटू गोबरगणेश की सलाह लेता है और उसे भरसक अपने पास से अलग रखना नहीं चाहता। और विदूषक का 'कैरीकेचर' कालिदास ने ऐसा खींचा है कि देखते ही बनता है।

गरीब मछली वाले पर अँगूठी की झूठमूठ की चोरी का अभियोग लगा कर उसके साथ बेमुरौव्वती से पेश आने वाले पुलिस के सिपाहियों का भी अच्छा व्यंगात्मक खाका कालिदास ने खींचा है। पुलिस वाले पहले उसे बुरी तरह पीटते हैं और गालियाँ देते हैं; और फिर जब राजा की तरफ से उसे दंड के बजाय पुरस्कार मिलता है, तो उस निरीह के दोस्त बन जाते हैं और उस दोस्ती में उसके पुरस्कार के रुपयों से शराब पीने का प्रस्ताव करते हैं। वास्तव में 'शकुन्तला' नाटक में इस चित्र की कोई आवश्यकता न थी, और इसके बिना नाटक की प्रगति बड़े मजे में चल सकती थी। यह पुलिस-प्रसङ्ग

कालिदास ने अपने युग की सामन्तवर्गीय शासन-नीति के [illegible] एक महत्वात्मक निदर्शन के उद्देश्य से ही किया [illegible]। इसमें सन्देह के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं होनी चाहिए।

वास्तव में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में कालिदास ने आरम्भ से लेकर अन्त तक सामन्तवर्गीय समाज का [illegible] और [illegible] ढंग से उघाड़ा है कि प्रशंसा करते ही बनती है। [illegible] उन्होंने अपने नायक को धूर्त, दम्भी, कपटी और [illegible] चित्रित किया है। कण्व के आश्रम में प्रवेश करके [illegible] निर्मल-चरित्र और सुकुमारी शकुन्तला के रूप [illegible] इन्द्रिय-परायणता को चरितार्थ करने के लिए वह [illegible] प्रपंच रचता है और सशक्त बनाने के उद्देश्य से [illegible] का वेश धारण कर लेता है, यह बात कालिदास ने [illegible] में प्रदर्शित कर दी है। उसके बाद अपनी धूर्तता से [illegible] करके—अर्थात् शकुन्तला का कौमार्य नष्ट करके—वह [illegible] प्रकार किनारा कस लेता है, इस बात से उक्त नाटक के सभी पाठक परिचित हैं। उसके बाद जब गर्भवती शकुन्तला आश्रमवासियों के [illegible] में आत्म-सम्मान त्याग कर दुष्यन्त के यहाँ जाती है, [illegible] जिन शब्दों में राजा उसका तिरस्कार करता है, वे एक 'धीरोदात्त' नायक के [illegible] कदापि नहीं हो सकते। यहीं पर कवि को अपने मन की बात कहने का उपयुक्त अवसर मिलता है और वह शकुन्तला के मुँह से कहलाता है—"अनार्य! अपने नीच हृदय के मान दण्ड के अनुसार तुम दूसरों की मनोभावनाओं का विवेचन करते हो! तुम्हारे समान कौन दूसरा ढोंगी हो सकता है, जो धार्मिक वेश में किसी विश्वास-परायणा नारी को बहका कर, उसे तृण से ढँके हुए कूप की तरह धोखा देकर, विनाश के गड्ढे में ढकेलना चाहता है?"

यह जानते हुए भी कि दुष्यन्त उसका पति है, और हर हालत में (चाहे वह उसे त्याग ही क्यों न दे) उसे 'आर्यपुत्र' कहकर परम शिष्टता और भक्तिपूर्वक सम्बोधित करना उसका शास्त्रोल्लिखित धर्म है; यह सब जानते हुए भी शकुन्तला उसे अत्यन्त क्रोध और घृणा के साथ 'अनार्य' कह कर सम्बोधित करती है—यह साहस आप समस्त संस्कृत-साहित्य में केवल कालिदास की ही नायिका में पायेंगे। किसी आदर्श नारी के मुँह से (और वह भी नाटक की प्रधान नायिका हो)

पति के प्रति इस प्रकार का सम्बोधन काम में लाया जाना उस युग में कैसा प्रचण्ड क्रान्तिकारी साहस था, इस बात को आज हम लोग ठीक तरह से हृदयङ्गम करने में समर्थ न हो सकेंगे। पर वास्तव में कालिदास-कालीन सामाजिक परिस्थितियों और धार्मिक रूढ़ियों पर विचार करते हुए मैं इस घोर क्रान्तदर्शी कवि के विद्रोह और बुद्धि स्वातन्त्र्य से अत्यन्त प्रभावित हो उठता हूँ।

कुछ आलोचकों का यह कहना है कि दुर्वासा के शाप का बहाना पकड़कर कालिदास ने अपने नायक की लम्पटता को ढँकना चाहा है, और वास्तव में उन्होंने दुष्यन्त को आदर्श-स्वरूप चित्रित करना चाहा है। मेरी राय में इससे गलत बात दूसरी हो ही नहीं सकती। आदि से लेकर अन्त तक दुष्यन्त की धूर्तता और लम्पटता के जो चित्र कालिदास ने खींचे हैं, वे इतने स्पष्ट और सोद्देश्य हैं कि केवल ऊपर, सतह पर, नजर डालने वाले पाठक भी, यदि वे निपट मूर्ख न हों तो, उनकी वास्तविकता से परिचित हो सकते हैं। दुर्वासा के अभिशाप का झीना-सा पर्दा अवश्य नायक के वास्तविक चरित्र के ऊपर एक विशेष अवसर पर कालिदास को डालना पड़ा है। यह कालिदास का विशेष टेकनीक रहा है कि उन्होंने अपने युग के अभिजातवंशीय, सुसंस्कृत धूर्तों की पोल सुसंस्कृत ढंग से ही—बड़े ही सौष्ठव और सुघड़ाई के साथ—खोली है, और इस प्रकार 'मियाँ की जूती मियाँ के सर' वाली कहावत को चरितार्थ किया है। यदि वे ऐसा न करते, तो प्रतिष्ठित राजकीय रंगमंचों से उनके नाटक खेले न जाते और उनका एक विशेष उद्देश्य ही चौपट हो जाता। वह विशेष उद्देश्य यह था कि वे सुसंस्कृत अभिजातवंशीय धूर्तों और लम्पटों के सामने एक ऐसा शीशा रखना चाहते थे, जो उनकी ऊपरी संस्कृति और आभिजात्य के गौरव का पर्दा फाड़ करके उनका यथार्थ भीतरी स्वरूप उनके और जनता के सामने रख दे। इस उद्देश्य में उन्होंने निश्चय ही आश्चर्यजनक रूप से सफलता प्राप्त की होगी।

दुर्वासा का अभिशाप पर्दा होने पर भी ऐसा झीना और पारदर्शी है कि उसमें वास्तविकता छिप नहीं पाई है। नाटक में दिखाया गया है कि अभिशाप से ग्रस्त होकर दुष्यन्त शकुन्तला को पहचान नहीं पाता; पर साथ ही उस व्यभिचारी मनोवृत्ति के नायक के मन में यह स्वाभाविक भावना उठती है कि 'यह सुन्दरी तरुणी

निर्बन्ध हो दूसरे की हो चुकी है और मुझे फँसाना चाहती है; पर फिर भी यदि मैं उसे अपने पास रख लूँ, तो उसके यौवन का उपभोग करके सुखी हो सकता हूँ।" नाटक की इस मनोवृत्ति से अभिज्ञान का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, फिर पर भी कालिदास ने जो इसका उल्लेख करना आवश्यक समझा है, उसका उद्देश्य इसके सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता कि वे अपने चरित्र-नायक की लम्पटता को किसी भी हालत में छिपाना नहीं चाहते थे।

कालिदास की चर्चा मैंने कुछ विस्तार के साथ इसलिए की है कि उन्होंने एक दीर्घ-सामन्तवादी परम्परा के युग में पैदा होकर, पूर्णतः सामन्तवादी संस्कृति से पोषित होकर, और सामन्तवर्गीय समाज के बीच में जीवन बिताने पर भी अपनी विराट् प्रतिभा और स्वस्थ संस्कार के फल-स्वरूप अपने को उस घोर रूढ़ि और दास मनोवृत्ति के वातावरण से बहुत-कुछ अलग रखा। यह कहना अत्युक्ति होगी कि उस संसर्ग से वे एकदम अछूते रहे; पर फिर भी उन्होंने गलित युग-भावना के प्रति विद्रोह की स्पष्ट घोषणा की, इसमें सन्देह के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

कालिदास के समकालीन और उनके परवर्ती कवियों की सारी संस्कृति और कला सामन्तवर्गीय समाज के मनोविनोद और आराधना में खर्च होती रही। वे या तो पौराणिक आख्यानों के आधार पर रचे गए काव्यों और नाटकों द्वारा वीरत्व के नाम पर अनावश्यक नर-संहार करने वाले भूमि के लुटेरे क्षत्रिय राजाओं का गुणगान करते रहे, या घोर शृङ्गारिक रचनाओं—विलास और राग-रंग के रंगीन चित्रों—द्वारा एक अनोखे अफ़ियूनी नशे में जनता को गर्क करने की चेष्टा करते रहे—इस उद्देश्य से कि समाज और संसार की यथार्थ परिस्थितियों की भयानकता की ओर उनका ध्यान न जाने पावे और सामन्तवर्गीय महाप्रभुओं की ज्यादतियों के विरुद्ध विद्रोह की कोई भावना उनके मन में न जगने पावे। मैं यह नहीं ... चाहता कि सामन्तों के पिट्ठू उन कवियों के मन में ज्ञात ... पूर्वोक्त उद्देश्य वर्त्तमान था; पर इतना निश्चित है कि उनके अज्ञा... में वह उद्देश्य अन्तर्निहित था। ज्ञात रूप से तो वे यह विश्वास ... थे कि वे अपनी साहित्य-कला द्वारा एक ऐसे रस की सर्जना ... हैं, जो "स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः, वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मानन्द..."

और लोकोत्तरचमत्कार-प्राणः"—अर्थात् स्वयं अपने प्रकाश से उद्भासित, चिदानन्दमय, अतीन्द्रिय, ब्रह्मानन्द का सहजात, लोकोत्तर चमत्कारयुक्त और सप्राण है। इस प्रकार अपने अन्तर्मन की वासना-विकूजित कल्पनाओं को ब्रह्मानन्द की अलौकिक 'फेन्टेसी' में एक रूप में मिलाकर वे लोग स्वयं मूर्खों के काल्पनिक स्वर्ग में रहना पसन्द करते थे और जनता को भी उसी मूर्खता पूर्ण गोरखधन्धे में (जिसे 'काव्य-शास्त्र-विनोद' का भारी भरकम नाम दिया जाता था) भरमाते रहने में सुख प्राप्त करते थे। सामन्तवादी शासकवर्ग उनसे प्रसन्न रहा करता था—इसलिए कि उनकी काव्य-कला जनता के पार्थिव असन्तोषों के ऊपर एक ऐसा सुनहरा मुलम्मा चढ़ा देती थी, जो दुःख-दैन्य और दारिद्र्य की समस्त नग्नता को ढंक कर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामन्तों के लुटेरेपन का समर्थन करती थी।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों संस्कृत-साहित्य का रूप कृत्रिम से कृत्रिमतर और जटिल से जटिलतर होता चला गया। जीवन से दूर रहने वाले इस घोर पलायनवादी साहित्य की ऊपरी पालिश और कृत्रिमता की चरम परिणति 'कादम्बरी' और 'नैषधचरित'-जैसे शब्दाडम्बर पूर्ण रचनाओं में हुई। महज शब्द-चातुरी के प्रदर्शन और सभा-विलास तथा विनोद के लिए इस प्रकार की रचनाएं रची जाती थीं, और सामन्तों के चापलूस दरबारी आलोचक उनकी प्रशंसा के पुल बांध दिया करते थे—केवल इसलिए कि महाप्रभुओं को वे चीजें पसन्द आती थीं।

संस्कृत-कविता के 'डिकेडेन्ट' युग के बाद भारत में फिर एक बार वीर-गाथा-काल आया और वीर काव्य लिखे जाने लगे। चन्दबरदाई आदि कवि इस क्षेत्र में आगे आये और भटैती को ही काव्य का चरम उत्कर्ष मानकर एक विचित्र प्रकार के भाट-साहित्य की रचना करने लगे। उस समय नये आये हुए बाहरी शत्रुओं के प्रतिरोध के लिए युद्ध-क्षेत्रों में फंसे रहने वाले सामन्तों को ऐसे कवियों की सम्भवतः आवश्यकता थी। पर इस प्रकार की कविता में न तो काव्योचित गुण वर्तमान थे, न जनता के लिए वह किसी रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकती थी।

इसके बाद जब मुग़ल सल्तनत [illegible] से चारों ओर भक्ति-

भाँति जकड़ गया और दो धर्मों के बीच संघर्ष और द्वन्द्व-युद्ध चलने लगा, तो एक सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्ति की लहर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उमड़ चली। इसी युग में रामानन्द, कबीर, रविदास, तुकाराम, नरसी मेहता आदि सन्तों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वर्ण-भेद, जाति-भेद तथा धर्म-भेद को मिटाकर धार्मिक एकतावाद का प्रचार किया। परम्परागत रूढ़ियों और अन्ध धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध इन सन्तों ने (विशेषकर कबीर ने) विवेक की वाणी घोषित की। एक ओर विवेक की रुक्षता और दूसरी ओर आध्यात्मिक प्रेम की रसमयता—इन दो धाराओं द्वारा क्रान्ति की नयी लहर फूट पड़ी। ये दोनों राजनीतिक विवशता तथा सामाजिक और आर्थिक संघर्ष से पलायन के ही दो विभिन्न रूप थे, सन्देह नहीं; पर यह पलायन संस्कृत-साहित्य के 'डिकेडेन्ट' युग के उन शृंगारी कवियों के पलायन से कम अस्वस्थ था, जो केवल कामुकता-जनित विलासिता के अलंकरण में ही अपनी सारी काव्य-साधना को समाप्त कर दिया करते थे। इस 'पलायन' के भीतर जीवन को एक अत्यन्त उन्नत और स्वस्थ रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति निहित थी। कबीर का हेतुवाद अधिक लोकप्रिय न हो सका और उनकी मृत्यु के बाद उस स्वस्थ भाव-धारा की गति देशव्यापी जड़ता के रेगिस्तान में सूख-सी गई। पर जिस आध्यात्मिक प्रेम की रसमयता की धारा उन्होंने बहाई थी, उसमें बाढ़-सी आ गई, और वह उमड़ते-उमड़ते बंगाल के सागर-तट तक जा पहुँची। इस प्रेम-धारा का रूप स्थान-स्थान में बदलता चला गया। कहीं वह एकमेवाद्वितीयम् की प्रेमाराधना के रूप में तरंगित हुआ, कहीं कृष्ण-प्रेम के रूप में परिवर्तित हुआ और कहीं उसने सीता-राम की भक्ति का रूप धारण कर लिया। सन्त तथा भक्त कवियों ने साहित्य तथा धार्मिक जगत को एक निराले प्रेमोन्माद से छा दिया। उन लोगों ने अपने अनजान में अवचेतन मन की 'फेन्टेजीज' की—छायानुभूतियों की—लगाम इस प्रकार ढीली कर दी कि सोचकर आश्चर्य होता है। उन छायानुभूतियों की सहायता से उन्होंने अपनी दमित यौन प्रवृत्तियों को विचित्र आध्यात्मिक रूपकों में परिणत कर दिया और राधा-कृष्ण के प्रेम की आड़ में अपने अनजान में अपनी दबी हुई मूलगत वासनाओं की तुष्टि की। कुछ विशेषज्ञों ने इसको यौनवृत्ति का उन्नतीकरण कहा है। मैं इस मत की यथार्थता को स्वीकार करता हूँ, और यह मानता हूँ कि यह उन्नती

करण कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ रूप में व्यक्त हुआ है। पर साथ ही यह दृष्टिकोण भी भुलाने-योग्य नहीं है कि कुछ वैष्णव कवियों ने इस उन्नतीकरण को बहुत-कुछ अंश तक विकृति का रूप भी दे दिया था। उनके प्रेमोद्‌गार कभी-कभी अत्यन्त अस्वस्थ मनोविकारों से ग्रस्त दुर्बल-प्राण व्यक्तियों के उद्‌गार-से लगने लगते है। कुछ वैष्णव कवियों ने तो राधा-कृष्ण का प्रेम वर्णन करते समय आध्यात्मिक रूपकों में बाह्यावरण भी उतार कर फेंक दिया है और विशुद्ध वासना के विषैले श्वासों का स्वच्छन्द उद्‌गीरण किया है। 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव को मैं इस कोटि के कवियों में अन्यतम मानता हूँ। इस प्रकार के कवियों की निन्दा मैं अश्लीलता के आधार पर नहीं कर रहा हूँ—क्योंकि मैं मानता हूँ कि श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न किसी भी महत्वपूर्ण रचना के सम्बन्ध में लागू नहीं होना चाहिए। मेरे कथन का तात्पर्य केवल यह है कि जयदेव-आदि कवियों की शृंगारिकता अत्यन्त अस्वस्थ और विकृत है—वह दमित यौन-वृत्ति के विकारों से ग्रस्त, पागल का प्रलाप है।

चण्डीदास ने राधा-कृष्ण की प्रेमानुभूति के रूप को अपने जीवित प्राणों की रसानुभूति की उन्मादना दी; पर स्नायु-विकारग्रस्त भावोद्‌गारों से वे भी बच न सके। विद्यापति ने उस अनुभूति को ऐसा सुकान्त, सुकोमल, सुकुमार और सुसंगत कवित्वमय रूप दिया कि कवित्व-कला की ऊपरी दृष्टि से उनके पदों की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। पर जो एक विशेष दोष प्रायः सभी वैष्णव कवियों में वर्तमान रहा है, वही उनमें भी रहा है। अर्थात प्रेम की अनुभूति और विरह तथा मिलन के अनुभवों के रूप में उन्होंने अपने अज्ञात में अपने अन्तर्मन की जिन सुन्दर छायानुभूतियों के सहारे से लिये हैं, उनकी विशेषता को बिना समझे ही उनके बहाव में वे पूरी तरह बह गये हैं।

हिन्दी में तुलसीदास और सूरदास में यह आध्यात्मिक प्रेमानुभूति दो विभिन्न रूपों में आई है। सूरदास ने अन्य वैष्णव कवियों की तरह राधा-कृष्ण के प्रेम को एक अतीन्द्रिय और अलौकिक स्तर पर रखना पसन्द नहीं किया है। उन्होंने प्रेम की अनुभूति को वास्तविक जीवन की यथार्थता से ही प्राप्त किया है, और उसी वास्तविक

मानवीय अनुभूति के आधार पर राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम के विकास का चित्रण उन्होंने किया है। उनके राधा और कृष्ण देवलोक के दिव्य कल्पना-चित्र न होकर शरत् युग के किसी उपन्यासकार के सजीव चरित्र-से मालूम होते हैं। उनकी राधा तो जैसी शरत् की पार्वती की ही पूर्व संस्करण है। राधा के बाल्य-जीवन से लेकर कुरुक्षेत्र में रुक्मणी के साथ कृष्ण के दर्शन होने तक का सारा कथानक चरित्र चित्रण और आदर्शनिरूपण शरत्के किसी उपन्यास का-सा लगता है। वैष्णव कविता के युगमें इस तरह के यथार्थ के रँगसे रँगी हुई कला वास्तव में आश्चर्यका विषय है। सूरदास ने जैसे अपने व्यक्तिगत जीवन की यथार्थ अनुभूतियों और वास्तविक घटनाओं को राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला के रूपक में बाँध दिया हो। सूरदास की कला भारत के समस्त वैष्णव कवियों की कला की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और सुन्दर बन पड़ी है। वैष्णव कवियों में दमित यौन-वृत्त-जनित जो घोर अस्वा-स्थ्यकर रहस्यवादी अथवा वासनावादी 'फेन्टेजियाँ' पाई जाती हैं, सूरदास ने उनसे अपने को पूर्णतया नहीं, तो बहुत कुछ अवश्य बचा लिया है। इसका कारण केवल यह है कि उन्होंने राधा-कृष्ण की काल्पनिक छायामूर्त्तियों पर देवत्व आरोपित करके उनकी रहस्याराधना नहीं की और अपने प्रेम की नींव शून्य के आधार पर स्थापित नहीं की। सूरदास गुण-दोष और पाप-पुण्ययुक्त यथार्थ मानव-जीवन की मिट्टी पर ही अपने पाँवों को जमाना पसन्द करते थे, रहस्यवादी प्रेम की हवाई शून्यता के प्रति उन्हें आकर्षण नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि आदर्शवाद के आधुनिकतम दृष्टकोणसे उनके प्रेमदर्शवादकी कमियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं; पर उस समय के आदर्शको सामने रखते हुए सूरदास काफी प्रगतिशील थे, यह मनना ही पड़ेगा।

तुलसीदासका क्षेत्र सूरदास की अपेक्षा बहुत व्यापक रहा है। सूरदास ने बाह्यजगत् और अन्तजगत् दोनों को पूर्ण प्रवेग से अपनाया। अपनी अन्तर्भावनाओं में मग्न रहते हुए भी वह अपने चारों ओर के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चक्रों और उनकी दैनन्दिन प्रगति के प्रति तनिक भी उदासीन नहीं थे, बल्कि सचेष्ट रूपसे उनके प्रति सचेत थे। अपने युग के नैतिक ह्रास, धार्मिक पाखण्ड, जन-साधारणकी आर्थिक और सामाजिक विवशता, रोग-शोक और दुःख-दारिद्र्यका उल्लेख उन्होंने अपनी रचनाओंमें बार-बार किया है—

... उन्होंने इन बातों का वर्णन नहीं किया है, ... मनोवेग से दिलचस्पी ली है। उन वर्णनों को ... के मार्मिक पीड़न और अनुभूति की तीव्रता का ... है

... ने निर्विवाद-रूप से राम की भक्ति का प्रचार किया है। पर ... एकांगीण—केवल मात्र अन्तर्मुखी—नहीं है। उसका ... पक्ष भी बड़ा तगड़ा है। वह जानते थे कि जिस भक्तित्व का ... करना चाहते हैं, उसमें ठोसपन तभी आ सकता है जब वह ... की भीतरी समता के साथ-ही-साथ बाह्य वैषम्य को भी दूर करने में सहायक हो सके। जिस युगमें उन्होंने जन्म लिया था, उसमें सर्वत्र पाखण्डियों और पोपपंथियों का जोर था। धर्मध्वजी वैष्णवों और कुतर्की शैवों के पारस्परिक संघर्ष-विघर्ष के बीच में सहज विश्वास-परायण, आर्थिक तथा सामाजिक कष्टों से पीड़ित भोली जनता पिसी जा रही थी; सत्य और न्याय पर से जनता का विश्वास डिग रहा था। ऐसी हालत में तुलसीदास अच्छी तरह जानते थे कि जिस 'मिशन' के लिए वह आए हैं, उसे पूरा करने के लिए उन्हें कुतर्कियों के विरोध और जनता के अन्धसंस्कार-रूपी बाधाओं के बड़े-बड़े पहाड़ों को काट कर अपने लिए रास्ता साफ करना होगा। रामचरितमानस के आरम्भ में जो लम्बी-चौड़ी भूमिका उन्होंने लिखी है, वह इन्हीं बाधाओं का सामना करने के उद्देश्य से। उन्होंने जिस पौराणिक खँडहर की नींव पर अपना नया धर्म प्रतिष्ठित करना चाहा है, उसकी एक-एक टूटी-फूटी और कच्ची ईंट को उखाड़ कर उनके स्थान पर नयी और मजबूत ईंटों को लाकर जोड़ा है और बिना किसी आडम्बर के ऐसी सादगी से उन्हें सजाया है कि अनलंकृत कला-सौन्दर्य की वह सरलता विश्व-साहित्य के लिए एक महान आश्चर्य की वस्तु बन गई है। पाखण्डियों की बहुत सी परम्परागत रूढ़ियों पर तुलसीदास ने कुठाराघात किया है। पुराणों में वर्णित देवों की चरित्रहीनता और आत्मलीनता से खिन्न होकर उन्होंने ... पर जो व्यंग के छींटे उड़ाए हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं—"ऊँच निवास, नीचि करतूती, देखि न सकहिं पराइ विभूती।" "द्विज देवता घरहिं के बाढ़े", ... प्रवचनों में उन्होंने ... के साथ देवों की निन्दा की है। ... स्थान पर तो उन्होंने देवताओं को दनुजों, प्रेत-पिशाचों और भूत-... को ही समान ... में ... के वर्णन में उन्होंने

अपने युग के पाखण्डी पण्डे-पुरोहितों, ढोंगी [illegible] और [illegible] ब्राह्मणों की अच्छी पोल खोली है। राम-भक्ति [illegible] उन्होंने समस्त वर्ण-भेद, वर्ग-वैषम्य और विरोधी [illegible] एक सूत्र में गूँथने का जो भगीरथ प्रयत्न किया [illegible] जड़ता को ध्यान में रखते हुए कुछ कम प्रशंसनीय नहीं है। [illegible], केवल अपने ही पैरों के बल खड़े होकर, [illegible] अवस्था में मांगे हुए टुकड़ों पर गुजर करके, [illegible] अवस्था में मसजिदों में रातें बिताकर, भयंकर विरोध [illegible] अतिक्रम करते हुए वह सुदृढ़ विश्वास के [illegible] पर चलते रहे, जिसका फल यह हुआ कि [illegible] उन्होंने एक ऐसे धर्म का निर्माण करने में [illegible] जिसका प्रधान उद्देश्य था वर्ग-भेद-विच्छेद।

यह था उनके बहिर्मुख व्यक्तित्व का स्वरूप। [illegible] इससे कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं था। कलात्मक [illegible] से तुलसीदास को शेक्सपीयर के टक्कर का [illegible] का यह रूप रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में [illegible] और सुतीव्र रूप में परिस्फुट हुआ है। इस काण्ड में तुलसीदास ने जिस संगति से कथावस्तु का निरूपण किया है, वह अपूर्व है; जिस गहन और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने पात्रों का चरित्र-विश्लेषण किया है, वह अनुपम है; अन्तर्प्रान्त की जिस निगूढ़ भावाकुलता से रस का उद्वेलन किया है, वह बेजोड़ है। इस काण्ड के प्रत्येक चरित्र के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन ऐसे स्वतन्त्र और परिपूर्ण रूप से हुआ है कि शेक्सपीयर को छोड़कर संसार का दूसरा कोई भी कलाकार मुझे ऐसा नहीं मिला, जो इस विशेषता में तुलसीदास की बराबरी कर सकता हो। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जिन चरित्रों का चित्रण उन्होंने किया है, वे सब ऐसे जटिल और असाधारण मनोवृत्ति वाले हैं कि उनके मनोविश्लेषण में कोई भी दूसरी श्रेणी का लेखक तनिक भी सफल नहीं हो सकता। तुलसीदास ने प्रत्येक पात्र के गहन अन्तर्द्वन्द्वों और उलझे हुए मनोभावों का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि देखते ही बनता है। प्रत्येक पात्र की साधारण से साधारण गतिविधि और साधारण से साधारण बोलचाल को ऐसे सुनियमित और सुसंगत क्रम से सन्निविष्ट किया है, जो केवल एक उत्तम कोटि के शिल्पी के हाथों ही सम्भव हो सकता है। रसोद्वेलन में समय और तीव्रता का स्थान-काल

पात्र भेद से ऐसा सुसामंजस्य प्रदर्शित किया है कि मुग्ध हो जाना पड़ता है। पढ़ने वाले को कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि वह तीन सौ वर्ष पहले किसी कवि की रामायण-कालीन इतिहास-सम्बन्धी रचना नहीं, बल्कि उन्नीसवीं सदी के टाल्सटाय, दास्तायवस्की सदृश यथार्थ जीवन के किसी आदर्शवादी कलाकार की आधुनिक कृति पढ़ रहा हो।

वैष्णव कवि अपने हृदय की प्रेम-भावना को राधा और कृष्ण की प्रेमानुभूति से मिला कर केवल उसी में तन्मय और मग्न होने की बात सोचा करते थे : उस शृंगारिक वाह्यानुभूति के बाहर किसी विषय में दिलचस्पी लेने की कोई प्रवृत्ति उन में वर्त्तमान नहीं थी। पर तुलसीदास चूँकि आत्मलीन कवि नहीं थे, इसलिए उन्होंने एक ऐसे विषय को अपने काव्य का आधार बनाया, जिसका क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत था। उन्होंने आँखें खोल कर अपने चारों ओर के संसार को देखा, सामाजिक प्रगति की ऐतिहासिक परम्परा की छान-बीन की, अपने समय के समाज की वास्तविकता पर विचार किया और भविष्य की ओर संकेत किया। मैं तुलसीदास की गणना उन पाँच महास्तम्भों के साथ करता हूँ, जो भारतीय साहित्य की प्रगति के महामार्ग के पाँच प्रमुख जंक्शनों के स्मारक-स्वरूप हैं। वे पाँच क्रम से इस प्रकार हैं—रामायणकार, महाभारतकार, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ। ये पाँच महायुगों के पाँच महा-प्रतिनिधि हैं। इन पाँचों के युगों में प्रगति के नये-नये परिवर्त्तित रूप देखने में आए हैं।

यह सब होते हुए भी हमें यह नहीं भूलना होगा कि जहाँ तुलसीदास ने अपने दृष्टिकोण में विशाल उदारता और प्रगतिशीलता का परिचय दिया है, वहाँ स्थान-स्थान पर प्रतिक्रियात्मक उद्गार भी प्रकट किए हैं। यह कहा जा सकता है कि नारी-जाति के सम्बन्ध में जो निन्दात्मक उद्गार प्रकट किए हैं, वे अवसर के अनुसार विशेष-विशेष पात्रों के मुँह से कहलाए हैं, और वास्तव में उनके अपने विचार इस तरह के नहीं रहे हैं। यही बात ब्राह्मणों पर आरोपित किए गए अतिरिक्त महत्व के सम्बन्ध में भी कहने वाले कह सकते हैं। हमारा तात्पर्य 'शापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥' 'पूजिय विप्र शील गुण हीना। शूद्र न गुणगण-ज्ञान प्रवीणा॥'—इस तरह के ब्राह्मण्य धर्म की प्रधानता के प्रतिपादक उद्गारों से है। पर इस प्रकार की दलील से तुलसीदास के कलंक का क्षालन नहीं हो सकता। यदि इस ढंग की

चौपाइयाँ क्षेपक नहीं हैं, तो चाहे किसी भी अवसर पर, किसी भी पात्र के मुँह से (अवश्य रावण पक्षीय पात्रों को छोड़कर) वे कहलाए गए हों, उन्हें हमें तुलसीदास का ही मत मानना होगा। [illegible] में यह सन्देह बहुत दिनों से बना हुआ है (यद्यपि खोजियों और आलोचकों के बीच इस प्रकार का मत प्रकट करने का साहस मुझे कभी नहीं हुआ) कि नारी-जाति और शूद्रों की हद दर्जे की निन्दा और मूर्ख तथा पाखण्डी ब्राह्मणों की अतिरिक्त स्तुति-सम्बन्धी चौपाइयाँ निश्चय क्षेपक हैं; क्योंकि जो कवि निषाद की स्तुति में आत्म-विस्मृति की सीमा तक भाव विह्वल हो उठा हो और ब्राह्मणों की संकीर्णता से स्वयं पीड़ित होकर खीझ कर कहता हो :—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूतु कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनामगुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीद कै सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

वह किस प्रकार इस तरह की बात लिख सकता है : 'पूजिय विप्र शीलगुणहीना। शूद्र न गुणगण-ज्ञान प्रवीणा॥' यह बात कुछ समझ में नहीं आती। यही बात नारी-जाति के सम्बन्ध में तुलसीदास के व्यक्तिगत मत के बारे में कही जा सकती है : पार्वती, मैना, सीता, कौशल्या आदि आदर्श स्त्री-चरित्रों के चित्रण में जिस कवि ने यह सिद्ध कर दिया हो कि वह नारी-हृदय की महत्ता से केवल परिचित ही नहीं, बल्कि अत्यन्त प्रभावित है, उसके सम्बन्ध में यह विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि वह 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी", इस आशय की निरादर-सूचक बातें नारी-जाति के सम्बन्ध में कह सकता है। पर जब खोजी लोग रामचरितमानस की तथाकथित 'प्रामाणिक पाण्डुलिपियों' का हवाला देकर यह सिद्ध करने लगते हैं कि शूद्रों और स्त्रियों के सम्बन्ध में जो निन्दात्मक वचन रामचरितमानस के प्रकाशित संस्करणों में पाये जाते हैं, वे क्षेपक नहीं हैं, तो मैं चुप लगा जाता हूँ और एक प्रगतिशील आत्मा के अंदर कोनों में छिपे हुए कुछ प्रतिक्रियात्मक तत्त्वों पर विचार करते हुए प्रकृति की एक निराली खामखयाली की ओर मेरा ध्यान जाता है; क्योंकि इस सम्बन्ध में तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता कि कुछ खामियों के रहते हुए भी तुलसीदास अपने युग के परम प्रगतिशील कवि थे।

भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की परम्परा

(२)

भक्तिकाल में जिस प्रकार तुलसीदास की प्रगति ने एक बिल्कुल ही निराला पंथ पकड़ा था, उसी प्रकार मीरा की साधना का पथ भी एक निजी विशेषता रखता है। मीरा ने घोर अंध संस्काराच्छन्न दकियानूसी युग की जड़ता के बीच में जन्म लेकर भी अपनी अद्भुत प्रतिभा के विस्फोट से अपने बद्ध वातावरण के विरुद्ध ऐसा भयंकर विद्रोह किया, जिसके लिये समाज कतई तैयार न था और जो उस समय के लिये एक अभूतपूर्व घटना थी। मीरा ने ऐसी भावमग्नता और तन्मयता के साथ कृष्ण के प्रति अपना स्त्री-जनोचित प्रेम प्रकट किया है, जिसकी तुलना अन्य किसी वैष्णव कवि की भाव-विमोहता से नहीं हो सकती। अपनी दबी हुई यौन प्रवृत्ति को उन्होंने सुस्पष्ट (छायात्मक अथवा रहस्यवादी नहीं) प्रेमानुभूति की सघनता द्वारा ऐसा सुन्दर उन्नत और परिमार्जित और स्वस्थ रूप दिया है जो किसी भी प्रगतिशील युग के पाठकों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। यह माना कि मीरा ने अपने अधिकांश रहस्यवादी रूपकों को अपने अवचेतन मन की 'फैन्टेसियों' से लिया है। पर अत्यन्त संकीर्ण सामाजिक संस्कारों और कठोर प्रतिबन्धों से ग्रस्त काल में भी जो नारी समस्त रूढ़िबन्धनों को छिन्न करके अपने नारी हृदय के भीतर दबी पड़ी प्रेमाकांक्षाओं को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने का साहस कर सकती है, उसका नैतिक साहस सराहनीय है और उसकी स्वस्थ मनोवृत्ति की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

भक्तिकाल के बाद हम रीतिकाल में आते हैं। इस युग में कवियों का आत्मिक आन्दोलन समाप्त हो गया था और सौन्दर्य की बाह्य रसानुभूति प्रधान रूप से जग रही थी। कवि लोग बाह्य जगत् का बहिष्कार करके रूप-जगत में मग्न हो गये थे। इसमें संदेह नहीं कि उस रूप जगत् की विचित्र सौन्दर्यच्छटा उन्होंने विविध रंगों और रसों के रासायनिक सम्मिश्रण से जिस सूक्ष्मता और जिस तन्मयता के साथ चित्रित की वैसा हिन्दी

में न कोई पहले कर पाया था और न बाद में कोई कर सका। पर अंतर के भाव-जगत् का तरंगाभिघात और अविरल गतिशीलता उस में न होने से एकरसता और एकरूपता ने उसे बुरी तरह जकड़ लिया और बद्धता के कारण उसका रस सरोवर धीरे-धीरे सड़ांध पैदा करने लगा। बहुत दिनों से सड़ाई गई शराब की तरह उसकी रसमयता ने कुछ उमर खैयामी प्रवृत्ति के व्यक्तियों को बाद में भी आनन्द दिया, पर कलाविद उससे बहुत ऊबने लगे थे। इसके साथ ही यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिए कि रीतिकाल में दो-एक प्रतिभाशाली कवि ऐसे भी उत्पन्न हुए थे जिन्होंने रूप जगत् की पूर्ण उपासना करने के साथ ही भाव जगत् के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई। इस सम्बन्ध में देव को विशेष रूप से उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। सौन्दर्य के बाह्य रूप के चित्रण में देव अपने युग में अद्वितीय थे पर उन्होंने रीति काल के अन्य कवियों की तरह केवल जड़ रूप की ही उपासना नहीं की। बल्कि भाव-जगत् की प्राणमयता द्वारा उसे सजीव स्पंदन से तरंगित भी किया है। देव सामाजिक विचारों में भी अपने युग से बहुत आगे बढ़े हुए थे। "सूद अपावन पावन पांड़े" आदि उक्तियों में उन्होंने अपने समय के झूठे ब्राह्मणवाद पर जो मार्मिक छींटे कसे हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं।

पर यह सब होते हुए भी रीतिकाल कुल मिलाकर एक ऐसे संकीर्ण दायरे में बँधा हुआ था जो जीवन की सहज गतिशीलता को बुरी तरह से रोके हुए था। उसकी प्रतिक्रिया जल्द ही आरम्भ होनी चाहिए थी पर आश्चर्य है कि उस युग की शैली का आधिपत्य काफी अरसे तक चला। भारतेन्दु युग में प्रतिक्रिया के प्रारम्भिक लक्षण दिखाई दिये, पर रीतिकालीन मनोवृत्ति के प्रभाव से वह युग भी पूर्ण रूप से अपने को मुक्त नहीं कर पाया। फिर भी इस युग में प्रतिक्रिया के लक्षण स्पष्ट प्रकट होने लगे थे। बंगाल से राष्ट्रीयतावादी साहित्य की लहर उमड़कर हिन्दी साहित्य के कूल पर टकराने लगी थी। नवीनचंद्र, हेमचन्द्र आदि कवियों की रचनाओं का प्रभाव हिन्दी पर पड़ने लगा था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र एक ओर भारतचंद्र राय 'गुणाकर' की रीति कालीन ढंग की शृङ्गारी रचनाओं से प्रभावित थे, दूसरी ओर राष्ट्रीय उत्थान और सामाजिक सुधार की लहर के अनुगामी थे। उनके समसामयिक दूसरे कवियों और लेखकों का भी यही हाल था।

रीतिकाल में जिस परम्परागत प्रगति की धारा रुकी-सी हो गयी थी उसका बाँध फिर से टूटने के स्पष्ट लक्षण इस युग में दिखाई देने लगे थे। द्विवेदी युग के कवियों ने प्रगति की उस डोर को यथाशक्ति काफी दूर तक खींच लिया। मैथिलीशरण जी की रचनाओं में (विशेष कर 'भारत-भारती' में) नयी प्रगतिशीलता का रूप भली-भाँति स्पष्ट हो उठा। मैथिलीशरण जी एक नयी शैली, एक नया रंग और एक नया ढंग लेकर आये। माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाओं से प्रभावित होने पर भी उनकी विशिष्टता पूर्णतः अपनी थी। माइकेल की व्रजांगना का जो अनुवाद उन्होंने किया, उसमें भी उनकी मौलिकता ही अधिक प्रस्फुटित हुई। करुणा-रस के साहित्य की दृष्टि से वह अनुवाद मूल से भी अधिक रसमय बन गया। अपनी रचनाओं में जिस भाषा का प्रयोग मैथिलीशरण जी ने किया वह इस मानी में काफी प्रगतिशील थी कि वह बहुत प्रांजल और बोधगम्य थी। फिर भी द्विवेदी युग में प्रगति की लहर उठने पर भी उसका साहित्य बहुत अपरिपक्व था और आज जब हम उसका फिर से अध्ययन करते हैं तो वह बच्चों का खिलवाड़-सा लगने लगता है। न तो उसमें बाह्य जगत् की चेतना प्रबल रूप से जगी हुई दिखाई देती है न अन्तर्जगत् की गहराई और मर्म को स्पर्श करने वाली अनुभूति का कोई चिह्न हम उसमें पाते हैं। कष्ट-कल्पना और कृत्रिम चेष्टा द्वारा उस युग के अधिकांश साहित्य का निर्माण हुआ। इस कृत्रिमता की प्रतिक्रिया अज्ञात रूप से साहित्यिक वातावरण में धीरे-धीरे होती चली जाती थी। उस प्रतिक्रिया का प्रस्फुटन छायावाद के रूप में हुआ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो दो-चार क्रान्तियाँ हुई हैं, छायावादी युग की क्रांति उनमें अन्यतम समझी जानी चाहिए। इस युग ने एक बड़े लम्बे अरसे के बाद ऐसी कविता को जन्म दिया जिसे वास्तविक अर्थ में कविता कहा जा सकता है। इस युग में कवियों का रुद्ध अंतरावेग मुक्त रूप से वैचित्र्यपूर्ण सुन्दर छन्दों, तालों और लयों में फूट पड़ा। आरम्भिक काल के अफ्रीका यात्रियों ने जिस प्रकार उस महाद्वीप के अगम और दुरूह जंगलों के भीतर प्रवेश करके रहस्यमय पर्वतों, झीलों और नदियों का आविष्कार करना शुरू किया, उसी प्रकार हमारे छायावादी कवियों ने अपने अंतर के दुर्गम भूलभुलैयों के मार्ग से यात्रा करके विचित्र रहस्यमय और ऐंद्रजालिक संसारों की खोज निकालने

का काम प्रारम्भ कर दिया। इस महत्त्वपूर्ण खोज के फलस्वरूप उन्होंने किन्हीं परिस्थितियों में जो उपकार किये उनका समुचित उपयोग करने में हम लोग भले ही असमर्थ रहे हों, पर इस बात से उसका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट नहीं हो सकता। हमारे साहित्य में छायावादी युग ठीक उसी अर्थ में प्रगतिशील रहा है, जिस अर्थ में पूँजीवाद अपने प्रारम्भिक युग में प्रगतिशील रहा है। पूँजीवाद ने नये-नये औद्योगिक आविष्कारों के द्वारा मानव जाति को आगे बढ़ने के पथ में साधन और महत्त्वपूर्ण सुविधाएँ प्रदान कीं। पर जो बुराई पूँजीवाद में मूलगत रूप से वर्तमान थी वही दूसरे क्षेत्र में छायावाद में भी निहित थी। जिस प्रकार मुट्ठी-भर पूँजीपतियों ने अर्थ का एकत्रीकरण शुरू कर दिया और उस अन्याय विभाजन द्वारा जन साधारण को सब प्रकार की पार्थिव सुविधाओं से वंचित रखा, उसी प्रकार छायावाद ने अंतर्ज्ञान के उन्मीलन को ऐसा रूप दे दिया कि वह जनसाधारण की दिलचस्पी की चीज न रह कर कुछ गिने-चुने कवियों के अहं के चरम विलास का कारण मात्र बन गया। फल यह हुआ कि इस नये वाद ने अंतर्जीवन की जो एक नई और महत्त्वपूर्ण दिशा आलोकित की थी, साहित्य और जीवन के सम्बन्ध में जिस अभिनव दृष्टिकोण की सृष्टि की थी, अपनी एकांगीयता से उसका महत्त्व उसने स्वयं-आप नष्ट कर दिया। हमारे छायावादी कवि अपने अंतर्लोक की छायाच्छवियों के साथ इस कदर एकान्त-भाव से रम गए कि बाह्य जीवन की कठोर वास्तविकता से उन्होंने एकदम मुँह मोड़ लिया। अपने व्यक्तिगत अहम् को इस कदर बढ़ावा देने लगे कि सामूहिक जीवन का—समष्टि का—कोई मूल्य ही उनके लिए नहीं रह गया। इस घोर आत्मवाद की वैसी ही प्रबल प्रतिक्रिया अनिवार्य थी, जो प्रगतिवाद के रूप में हमारे सामने आयी।

प्रगतिवाद का प्रारम्भिक युग विशुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आया। उसने पहला काम यह किया कि छायावादी युग की समस्त कृतियों पर निर्मम रूप से हथौड़ाघात करना शुरू कर दिया। मानव-मन का अगम, रहस्यमय और अनन्त-विस्तृत अंतर्लोक उसे दुर्गम और दुर्भेद्य अन्ध कारागार की तरह लगा, और उस कारा को परिपूर्ण शक्ति से भेदकर बाहर के प्रत्यक्ष प्रकाशमय जगत् की वास्तविकता को साहित्य में प्रतिष्ठित करने की घोषणा उसने की। यह

प्रवृत्ति भी एकांगीयता के खतरे से खाली नहीं थी। जिस प्रकार छायावादियों ने यह निश्चित विश्वास प्रकट किया कि समस्त बाह्य जगत अंतर्लोक की प्रतिच्छाया मात्र है, उसी प्रकार कट्टर प्रगतिवादियों ने भी अपना यह ध्रुव विश्वास प्रकट करना शुरू कर दिया कि मानव का अंतर्जगत् बाह्य जगत् की छाया मात्र है। इन दो चरमवादी मतों के फलस्वरूप कुछ समय तक साहित्य में बड़ी धाँधागर्दी चलती रही। छायावादियों का चरम Inhibitionism (अन्तर्प्रतिरोध) प्रगतिवादी क्रांति के परिणाम से चरम Exhibitionism (अवरोधहीन प्रदर्शनवाद) में परिणत हो गया। यौन-सम्बन्धी मनोभावनाओं को छायावादी कविगण आवश्यकता से अधिक शालीनता के साथ जिस प्रकार के शब्द-जालों से ढँकने आ रहे थे, उन सब आवरणों को अपरिपक्व प्रगतिवादियों ने नग्न अवस्था में उघाड़ना शुरू कर दिया। जब सेक्स सम्बन्धी उन्माद कुछ ठंडा पड़ा तो साहित्य का एक मात्र विषय वर्ग-समस्या को हल करना बताया जाने लगा, और वह भी केवल प्रोलेतेरियन वर्ग के प्रतिदिन के जीवन के क्रियाचक्रों द्वारा। हमारे 'डाइहार्ड' (कट्टर) प्रगतिवादियों ने साहित्य सर्जना को एक बहुत ही संकीर्ण दायरे के भीतर बाँधने की चेष्टा करके वास्तव में एक भारी गलती की ओर क़दम बढ़ाया। यह बात हमारे अति आधुनिकतावादी आलोचकों के ध्यान में रखने की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि साहित्य की परम्परागत स्वतःस्फूर्त गति और मुक्त विकास के क्रम को किसी एक विशेष वाद की कट्टरता के कन्सेण्ट्रेशन कैम्प में बन्द करने की चेष्टा सब युगों में घोर प्रतिक्रियात्मक और साथ ही असफल सिद्ध हुई है। प्रगतिवादियों का मूलमंत्र है गतिशीलता। इस गतिशीलता को यदि लोग कट्टर मार्क्सवाद के बाँध द्वारा रुद्ध करने का प्रयास करेंगे, तो वे स्वयं अपने लक्ष्य पर कुठाराघात करेंगे। मेरी इन बातों से कोई महाशय यह गलत अनुमान न लगावें कि मैं प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद का विरोधी हूँ। वास्तव में मैं प्रगतिशीलता को ही हर युग के साहित्य की श्रेष्ठ कसौटी मानता हूँ; और हमारे वर्त्तमान साहित्य में प्रगतिशीलता की जो नयी लहर चल पड़ी है, उसे मैं साहित्य के परिष्करण, परिमार्जन और कल्याण के लिए परम उपयोगी मानता हूँ। छायावादी युग ने कवियों को अंतर्लोक की गहनता में डुबा कर एकान्त आत्म चिन्तना में मग्न कर दिया था और सामूहिक जीवन की विराट् वास्तविकता से साहित्य संसार को विमुख कर दिया था। प्रगतिवाद ने बाह्य जगत

के जीवन संघर्ष की ओर हमारी चेतना दे उन्मुख करके साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया है, यह बात हमें किसी भी हालत में नहीं भुलानी होगी। मेरा निवेदन प्रगतिवादियों से केवल यह है कि मार्क्स के सौ वर्ष पुराने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को साहित्य क्षेत्र में ज्यों का त्यों आरोपित न करें। विगत सौ वर्षों के भीतर मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार ही जीवन और जगत् में जो रूपान्तर हो गया है, उसकी उपेक्षा करने से हम लोग प्रगतिवाद को नहीं, बल्कि विगतवाद को अपनाने की भूल करेंगे। यदि हम लोगों से आप यह कहें कि "मनुष्य का मन बाह्य पदार्थ की प्रतिच्छाया मात्र है और इस सिद्धान्त को तुम लोग आँख मूँद कर सत्य मान लो, तभी तुम प्रगतिवादी कहे जा सकते हो", तो यह ठीक उस तरह की बात होगी जैसा कि वेदानुगामी कट्टर पंथी लोग वेदों के बारे में कहा करते हैं कि "वेद अपौरुषेय हैं, उसके प्रत्येक कथन को बिना किसी तर्क के सत्य मान लेना चाहिए, और जो ऐसा नहीं मानता, वह अनार्य है।" मार्क्स ने हेगल से जिस सत्य का बीज लेकर उसे बदला हुआ रूप दे दिया उसी प्रकार मार्क्स के दार्शनिक सिद्धांत में सुधार की काफी गुंजाइश है, यह बात हम लोगों को मान लेनी पड़ेगी। मैं जानता हूँ कि मार्क्स अपने जमाने में घोर प्रगतिशील था, पर हम लोग जो मार्क्स से सौ साल आगे बढ़ गए हैं, स्वभावतः उससे कहीं अधिक प्रगतिशील हो गए हैं। इसलिए यदि हम चाहें कि साहित्य क्षेत्र में सच्चे अर्थों में प्रगतिशीलता आवे, तो हमें मार्क्स की दार्शनिकता के केवल उन्हीं तत्वों को लेना होगा, जो इस समय भी गतिशील हैं और साथ ही उन महान् वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा दार्शनिक क्रान्तिकारियों की खोजों से भी लाभ उठाना होगा, जो मार्क्स के बाद पैदा हुए हैं। फ्रायड और आडलर ने मानव के गहन रहस्यमय मन की अतलता के भीतर बैठकर जो युग परिवर्तनकारी आविष्कार किए हैं, उनको यदि हमारे मार्क्सवादी बच्चों के खेल की तरह तुच्छ समझकर चुटकियों में उड़ा देना चाहें, तो इससे वास्तविकता में कोई कमी नहीं आवेगी, बल्कि उनके द्वारा प्रचारित प्रगतिवाद ही संकीर्णता को अपनाकर जड़त्व की ओर उलटा कदम रक्खेगा। फ्रायड के सम्बन्ध में जैसी गलतफहमियाँ हमारे दकियानूसी आलोचकों में पायी जाती है, वैसी ही—बल्कि शायद उससे भी अधिक—भ्रान्ति हमारे मार्क्सवादी आलोचकों में विद्यमान है। फ्रायड के सिद्धान्तों में

धरती साहित्य

प्राचीन काल में साहित्य का महत्त्व केवल पढ़ने और सुनने भर तक ही सीमित नहीं था, बल्कि देश और समाज के व्यापक और सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका परिपूर्ण प्रभाव फैला हुआ पाया जाता था। प्राचीन काल के साहित्यिक ऋषि, कवि और मनीषी केवल कोरे कल्पना या साहित्य-स्रष्टा ही नहीं थे, बल्कि राजनीतिक विधानों तथा सामाजिक अनुशासनों के निर्माता भी थे। यही बात पुराणकर्ताओं तथा रामायण और महाभारत के रचयिताओं के बारे में भी कही जा सकती है। वेद, पुराण, रामायण और महाभारत ये सब अपने अपने युग की विशुद्ध साहित्यिक कृतियाँ हैं। पर इन कृतियों ने आज कल की तरह केवल सीमित साहित्य समाज पर ही अपना प्रभाव नहीं डाला है, बल्कि समाज के समस्त वर्गों और सम्पूर्ण अंगों को उन्होंने प्रेरित और परिचालित किया है। पर आज के साहित्य के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। आज का साहित्य (चाहे स्वदेशी हो चाहे विदेशी) समाज पर व्यापक प्रभाव डालने में असमर्थ है। आज का साहित्य एक विशेष वर्ग अथवा कुछ विशेष वर्गों के केवल ऊपरी स्तर पर आघात करता है और मूल प्राणों को वह स्पर्श भी नहीं कर पाता, उन्हें हिला देने की बात तो दूर रही। जब हम इस बात का कारण खोजते हैं तो दो बातों पर हमारा ध्यान जाता है: एक तो यह कि इस युग का साहित्य वास्तव में उस हद तक सप्राण और संजीवनी शक्ति से पूर्ण नहीं होता जितना कि प्राचीन काल का साहित्य रहता था, और दूसरा कारण (जो पहले कारण से अधिक महत्वपूर्ण है) यह है कि भौतिक विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय छीना-झपटी की राजनीति ने इस युग को अपने जटिल जालों से इस हद तक जकड़ लिया है कि साहित्य एकदम पृष्ठभूमि में चला गया है। आज का राजनीतिज्ञ साहित्यकार को या तो एक तुच्छ कीट समझता है, जिसे वह किसी समय इच्छा करने पर अपने पैरों तले कुचल सकता है, या एक ऐसा कुत्ता जिसे वह अपने वर्ग के राजनीतिक स्वार्थों की साधना के उपयोग में ला सकता है। जो आत्मविश्वासी साहित्यिक अपनी मौलिक प्रेरणाओं के अनुसार चलता है और किसी विशेष राजनीतिक वर्ग का

कठपुतला बनना अस्वीकार कर देता है, उसे यह प्रभुताशाली राजनीतिक-वर्ग पागल कुत्ता करार देता है और अन्ततः उसके अस्तित्व की जड़ खोद डालने के लिए संगठित रूप से तत्पर रहता है।

आज का राजनीतिक नेता देश का और समाज का सर्वेसर्वा है। आज के अन्तर-राष्ट्रीय नेता यद्यपि संसार में सामूहिक विनाश की आग धधका कर स्वयं नीरो की तरह वीणा-वादन में मस्त हैं, तथापि सभी क्षेत्रों में केवल उन्हीं की तूती बोलती हुई सुनाई पड़ती है और सर्वत्र या तो उन्हीं का जयजयकार हो रहा है या उन्हीं का नाम ले ले कर जनता हाहाकार मचा रही है। आज संसार के जितने भी तथाकथित साहित्यिक, दार्शनिक या वैज्ञानिक हैं, वे सब उन्हीं अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र के महाप्रभुओं के आदेशों का अनुसरण करते हुए उनके चरणों पर सिर झुकाये हुए हैं और उन्हें पौराणिक देवताओं के इन्द्र की तरह क्षमताशाली समझ कर उन्हीं की स्तुति में व्यस्त हैं। जिस साहित्य-स्रष्टा को किसी जमाने में सामाजिक विचार-धारा के क्षेत्र में महा-सम्राट् का पद प्राप्त था, आज वह राजनीतिक महाप्रभुओं का दासानुदास बना हुआ है। आज उसकी अपनी कोई आवाज नहीं है, वह केवल 'हिज मास्टर्स वायस' की, अपने राजनीतिक महाप्रभुओं की आवाज को, अपने भोंपू द्वारा दुहरा कर उसे बुलन्द करने में ही अपना बड़प्पन समझ रहा है और उसी में अपने उद्देश्य को पूर्ण हुआ जान रहा है। मजे की बात यह है कि उसका वह भोंपू भी अपना नहीं है, उसे भी उसने अपने महाप्रभुओं से ही प्राप्त किया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह बात केवल इस पराधीन भारत के साहित्यकारों के लिए ही नहीं है, यूरोप के 'स्वतन्त्र' देशों के साहित्यकार भी विश्वव्यापी दासत्व के भाव से ओत-प्रोत हैं।

वास्तव में साहित्य की यह व्यापक हीनता अत्यन्त खेदजनक है। फिर भी इस बात से किसी भी सच्चे साहित्य-प्रेमी को निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि असत्य अपने को एक विशाल बैलून की तरह फुला कर चाहे जैसा भी विराट रूप क्यों न धारण कर ले, वह अन्त में फूटेगा अवश्य और उसके भयभीत करने वाले आकार के भीतर की पोल एक दिन अवश्य ही खुलेगी। हमें यह आशा करनी चाहिये कि संसार के पिछले महायुद्ध के बाद अभी दो एक विराटतर

और विराटतम महायुद्ध और होंगे जब कि आधुनिक वैज्ञानिक तथा राजनीतिक सभ्यता का विध्वंसक रूप अपनी चरम सीमा को पहुँच जायगा और उसकी सारी धौंस, बड़प्पन का सारा ढकोसला, मिट्टी में मिल कर उसका यथार्थ नग्न रूप जनता के सामने आ जायेगा। तब साहित्य को फिर एक बार अपना खोया हुआ पद और प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकेगी।

आज साहित्य को राजनीतिक जीवन का अनुगामी बनाने की चेष्टा में संसार के असाहित्यिकों का एक बहुत बड़ा समाज नाना प्रकार के साधनों का प्रयोग कर रहा है। इस विशेष असाहित्यिक वर्ग ने संसार को धोखा देने के लिए ऊपर से झूठा साहित्यिक वेष धारण कर रखा है, पर कोई जानकार व्यक्ति उसके इस वेष से धोखा नहीं खा सकता! इस प्रचारक वर्ग की विभिन्न शाखाएँ नाना रूप धारण किये हुए विश्व के कोने कोने में फैली हुई हैं। कहीं तो वे साहित्यिकों को मार्क्सवाद के प्रचार के लिए उकसा रही हैं, कहीं उन्हें हिटलरवाद के प्रचार का साधन बनने के लिए विवश किया जा रहा है, कहीं चर्चिलवाद का राग अलापने तक ही उनके सृजनात्मक कार्य को सीमित रखने की चेष्टा की जा रही है और कहीं उन्हें रूजवेल्टवाद का अनुसरण करने के लिये प्रेरित किया जा रहा है। इस प्रकार आज के युग में साहित्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की जा रही है। पर साहित्य की यह विश्वव्यापी विवशता और दासत्व देखकर हमें निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि जो ध्रुव सत्य का बीज साहित्य के भीतर निहित है वह भले ही किसी युग में कुछ समय के लिए दब जाये, वह विनाश को कभी प्राप्त नहीं हो सकता; और अवसर पाते ही फिर परिपूर्ण वेग से अपने स्वतन्त्र, उन्नत और गौरवमय रूप में विश्व की सामूहिक विचारधारा का नियन्त्रण और संचालन करेगा।

मेरी इस बात से आप लोग इस भ्रम में न पड़ें कि मैं साहित्य-क्षेत्र में अराजनीति का पोषक हूँ और राजनीतिक तथा सामाजिक आदि सम्बन्धी विचार-धारा से साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं मानता। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि पूर्वकाल के साहित्यिक ऋषियों, मुनियों तथा मनीषियों ने राजनीतिक विधानों तथा सामाजिक

अनुशासनों का भी निर्माण किया है। वे लोग वास्तविक जीवन के किसी भी पहलू से कतराने वाले नहीं थे। पर अन्तर यह है कि वे तत्कालीन भूमि-लुंठक राजाओं तथा राष्ट्रनायकों के स्वार्थ-प्रेरित राजनीतिक सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते थे, बल्कि उन राष्ट्र-नायकों को अपने स्वतन्त्र आदर्शमूलक सिद्धान्तों के अनुसार चलने की प्रेरणा दिया करते थे।

साहित्य-निर्माताओं को यह उपदेश देना घोर मूर्खता का परिचायक है कि वे प्रगतिशील बनें, क्योंकि कोई भी वास्तविक साहित्य-धारा कभी प्रगति-विरोधी हो ही नहीं सकती। सच्चा साहित्यकार स्वभावतः सच्चे अर्थ में प्रगतिशील होगा। वह कभी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों को जकड़े रहना नहीं चाहेगा। उसके भीतर की बहुविध विचार-वृत्तियों का प्रवेग समस्त सामाजिक और राजनीतिक विरोधों और बाधाओं का लंघन करके निरंतर आगे की ओर बढ़े चले जाने के लिये स्वतः व्याकुल रहता है। रवीन्द्रनाथ के 'निर्झर' की तरह उसका चिर-प्रगतिशील प्राण इस संगीत स्वर की चरितार्थता के लिए सदा अधीर रहता है—

भाङ् रे हृदय, भाङ् रे बाँधन,
साध रे आजिके प्रानेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आघात कर।
मातिया जखन उठेछे परान,
किसेर आँधार, किसेर पाषान,
उथलि जखन उठेछे वासना
जगते तखन किसेर डर।
आमि ढालिबो करुणा-धारा, आमि भाँगिबो पाषान कारा।
जगत प्लाविया बेड़ाबो गाहिया आकुल पागल पारा।
एतो कथा आछे, एतो गान आछे, एतो प्राण आछे मोर,
एतो सुख आछे, एतो साध आछे प्रान हये आछे भोर।
आमि प्रानेर वासना प्रानेर आवेग रुधिया राखिते नारि

—"हे हृदय! तू आज सब बंधनों को तोड़ दे और प्राणों की साधना को चरितार्थ कर। लहर पर लहर उठाकर, चोट पर चोट करता जा।

[illegible] कहीं का अन्धकार और कैसा [illegible] जब हृदय की भावनाएं उमड़ उठी हैं, तब संसार में किसका डर रह गया? मैं करुणा-धारा बहाऊंगा और पत्थर की कारा को तोड़ूंगा। मैं सारे संसार में बहता हुआ पागलों की तरह गाता हुआ चला जाऊँगा। इतनी बातें मेरे भीतर उमड़ रही हैं कि प्राण विभोर हो उठा है। प्राणों की वासना को, उसके आवेग को मैं रोक नहीं सकता।"

पर कठिनाई यह है कि इस युग के जो आलोचकगण प्रगतिवाद के नाम पर कोलाहल मचा रहे हैं, उन्होंने केवल बाहरी जीवन की प्रगति को ही अपना सीमित आदर्श माना है, और अन्तर्जीवन की प्रगति को वे अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, बल्कि उसकी निन्दा करने पर उतारू रहते हैं। पर सच्चे साहित्य ने बाह्य जीवन की एकांगी प्रगति को कभी आदर्श नहीं माना है और न मान सकता है। अन्तर्जीवन के उत्तरोत्तर विकास से साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध बराबर रहा है और रहेगा। पशु-जीवन की प्रगति और मानव-जीवन की प्रगति में साहित्य यही अन्तर पाता है। पशु-जीवन की प्रगति बराबर बहिर्मुखी रही है। पर मनुष्य केवल इस कारण पशु से मनुष्य बना है कि बहिर्जगत के साथ ही साथ अन्तर्जगत की सूक्ष्म वृत्तियों के द्वन्द्व परिष्करण और विकास की ओर उसका ध्यान बराबर रहा है।

केवल मात्र बाह्य जीवन की प्रगति की ओर संलग्न रहने का अर्थ है अन्तर्जीवन को एकदम भुला कर पशुता के विराट रूप को अपनाना और मानवत्व के चरम विनाश की ओर प्रगतिशील होना। जीवशास्त्री हमें बताते हैं कि प्राणि-जगत की सृष्टि की प्राथमिक अवस्था में जो जीव उत्पन्न हुए वे अपने बाह्य जीवन के विकास की ओर इस कदर संलग्न हुए कि उन्होंने विराट आकार धारण कर लिया। आजकल का ह्वेल मच्छ उस युग के विशालकाय जीवों की तुलना में 'पिगमी' (वामन) लगता है। पर चूँकि यह एकांगीय प्रगति या विकास प्रकृति के सामञ्जस्यमूलक नियमों के विपरीत पड़ता है, इसलिये वे भीमाकार प्राणी टिक न सके और उनका समूल विनाश हो गया। आज यत्र-तत्र केवल उनके प्रस्तरावशेष पाये जाते हैं। इसी प्रकार कोई ऐसी विचार-धारा, कोई भी ऐसी सभ्यता न जीवनोपयोगी हो सकती है, न अधिक काल तक ठहर सकती है, और न मानव-समाज के लिए अन्ततः कल्याण-

[illegible] सिद्ध हो सकती है, जो केवल भाव जीवन के विकास और परिवर्तन की प्रगति में ही अपना ध्येय मानती हो—जिस [illegible] कुछ काल के लिये ऐसा ही विश्वव्यापी विग्रह [illegible] न [illegible] है।

वर्तमान युग की अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक [illegible] और वैज्ञानिक वर्द्धमान [illegible] भौतिकवादी प्रवृत्ति ने [illegible] और मानव के अन्तर्जीवन से उसके एकान्त [illegible] है। अपनी इसी एकान्तिक प्रवृत्ति की वह चरम प्रगति [illegible], जिस का फल आज हम लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं। [illegible] विश्व के [illegible] में आज [illegible] संसार का कोई भी भाग विशेष सुरक्षित नहीं है। [illegible] कहीं गृह युद्ध है, कहीं अकाल है और कहीं महामारियों [illegible] सृष्टि हो रही है। समस्त विश्व की जनता एक [illegible] भीतर बैठी हो [illegible] वस्तुओं का [illegible] नहीं है। आज मानवता न जाने किस अंधगुहा में [illegible] की नाड़ियां गिन रही हैं। राजनीति तथा विज्ञान [illegible] हो गये हैं। [illegible] महत्वकांक्षी प्रवृत्तियों का जो स्वरूप उसके [illegible] के रूप में समय-समय पर प्रकट होता रहा है, [illegible] मानवी सात्विक भावों को न जाने किस विद्युत [illegible] की धार से नोंच कर उजाड़ रहा है।

यह सब क्यों ? आज क्यों मानवात्मा सत्यान्वेषी ज्ञानयता के फौलादी पंजों के नीचे अत्यन्त दीन भाव से सिसकने को बाध्य हुई है ? इसका प्रधान कारण केवल यही है कि आधुनिक सत्यान्वेषी वर्तमान मानव ने अन्तर्जगत में निरन्तर संजीवन रस का संचार करती रहने वाली श्रद्धा के मूल तत्त्व को ही सुखा देने वाले वैज्ञानिक उपायों को अपनाया है। फल यह हुआ है कि जीवन में शान्ति, सामंजस्य तथा मानविक कल्याण के बीज बोने वाली प्रवृत्तियाँ भी जैसे नष्ट हो गयी हैं। चूंकि सच्चा साहित्य अन्तर्जीवन की प्रवृत्तियों के माध्यम से ही बाह्य जीवन में सामाजिक कल्याण की स्थापना करना चाहता है, इसलिये उसका कोई महत्त्व इस युग में स्वीकार नहीं किया जा रहा है, बल्कि स्पष्ट शब्दों में उसकी निन्दा की जा रही है। आज

केवल उन कवियों, कथाकारों तथा साहित्यिक निबन्ध-लेखकों की रचनाओं को महत्वपूर्ण बताया जा रहा है जो या तो गीतों द्वारा अपने राष्ट्र के योद्धाओं के वीरत्व की गुणगाथा गाते हों, या अपनी कहानियों और उपन्यासों में उन वीरों के 'अमर चरित' का चित्रण करते हों। रवीन्द्रनाथ ने किसी एक युद्ध के अवसर पर लिखा था—

कविगण चीत्कारिछे जगाइया भीति
श्मशान कुक्कुरदेर काड़ाकाड़ि गीति।

अर्थात् "कविगण भय की भावना उत्पन्न करते हुए श्मशान के कुत्तों की छीना-झपटी के गीत गा-गा कर चिल्ला रहे हैं।" जिस युग में साहित्यिकों का उद्देश्य केवल इतना ही रह गया हो, उस विनाश-शील युग को निश्चय ही धिक्कार है। इस युग में हम अन्तर-राष्ट्रीय साहित्यिकों का उद्देश्य इससे कुछ भी ऊँचा नहीं पाते। जो सच्चे साहित्यिक इस समय भी वर्तमान हैं उनकी तूती की आवाज़ रणोन्मत्त राष्ट्रों के नक्कारखाने में नहीं सुनायी देगी। उनमें से प्रत्येक आत्मा जैसे क्षीण स्वर में पुकार कर हैमलेट के शब्दों में कह रही है—

—"मेरे अन्तर की प्रवृत्तियों से समय बिलकुल मेल नहीं खाता। हाय रे, दुर्भाग्य कि इस विपरीत परिस्थित को संभालने के लिये मेरा जन्म हुआ!"

जहाँ अन्तर्जीवन की कल्याणोन्मुखी प्रवृत्तियों की प्रगति पर विश्वास न हो, जहाँ मानव हृदय से श्रद्धा का बहिष्कार कर दिया गया हो वहाँ श्रेष्ठ साहित्य की स्थापना असम्भव ही समझनी चाहिये। जिस युग में 'might is right'—क्षात्रबल ही परम बल है, इस सिद्धान्त का महत्व प्रतिपादित हो चुका हो, उस युग में 'साहित्य-तत्त्वं निहितं गुहायाम्'—साहित्य का तत्व किसी अंधेरी गुफा में जा छिपने के सिवा और कर ही क्या सकता है। फिर भी धर्मक्षेत्र की ही तरह साहित्य-क्षेत्र की भी यह अमर वाणी इस दैत्यगर्जना के युग के बीच में भी अपने शान्त स्वर में उन साहित्यिकों को महामन्त्र सुना रही है जिसकी आत्मा के कान हैं—

महाजनो येन गतः स पन्था

अर्थात् जिस मार्ग से हो कर साहित्य क्षेत्र के महामनीषी बिना विश्राम के निरन्तर आगे को बढ़े चले गये हैं, उसी मार्ग का अवलम्बन

करके, वर्तमान विश्वव्यापी महाकाल-रात्रि के अन्धकार में उनके हाथों से मशालों को लेकर, हमें भी अविश्वास अश्रद्धा के घोर जंगलों, दलदलों और पहाड़ों को पार करते हुए अग्रसर होते रहना होगा। साहित्य का जो परम महत्वपूर्ण ध्येय पिछले युगों से आज तक चला आता है—अर्थात् समाज के बाह्य जीवन की नाना प्रकार की विषमताओं के बीच में अन्तर्जीवन के सत्य से प्राप्त समता की स्थापना द्वारा सामूहिक जीवन को अधिक उन्नत, अधिक सुन्दर और अधिक कल्याणकारी विकास-पथ की ओर ले जाना--उसके सूत्र को इस घोर निराशा के युग में भी हमें पकड़े रहना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वार्थ-परायण तथा विध्वंस-रत नायक चाहे कितना ही क्यों न गरजें, अन्तर्जगत् के विकास को रोकने के उद्देश्य से कैसी ही कुचेष्टाएं क्यों न करें, साहित्य को अपने दासत्व के पाश में जकड़ने के लिए कितना ही भयभीत क्यों न करना चाहें, सच्ची साहित्यिक अनुभूति वाले व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे अपने ध्येय में अटल रह कर शांत किन्तु निश्चित रूप से अपना कार्य करते चले जावें।

शेली ने अपने 'डिफेंस आफ पोएट्री' नामक प्रसिद्ध निबन्ध में कहा है—"कविगण (अथवा साहित्य-कलाकार) ऐसे विधान निर्माता हैं जिन्हें संसार नहीं मानता, तथापि उनके द्वारा प्रदर्शित विधानों के अनुसार चलने को उसे बाध्य होना पड़ता है।" शेली जानता था कि साहित्य का महत्व कितना बड़ा है, उसका ध्येय कितना ऊँचा है, इसीलिये वह विश्वास के साथ इस सत्य की घोषणा कर गया है। शेली की यह घोषणा युग-युग के लिये सत्य है। कवियों या साहित्यकारों का ही वर्ग एकमात्र ऐसा है, जो संसार की समस्त विषमतापूर्ण राजनीतिक क्रांतियों, महायुद्धों के सामूहिक विनाश-कांडों के बावजूद संसार में समता, सुन्दरता और मंगलमयता लाने के आदर्शात्मक उद्योग में सदा सचेष्ट रहता है।

इसलिये हमें साहित्य-संकट के इस अन्धकार पूर्ण युग में भी इस विश्वास के बल पर खड़े रहना होगा कि साहित्य भविष्य में निश्चय ही एक न एक दिन अपने खोये हुए और गौरवशाली पद को फिर से प्राप्त करेगा और अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखता हुआ संसार के समस्त राजनीतिक तथा सामाजिक विधानों की बागडोर

युग-साहित्य

युग-वाणी—युग-साहित्य की पुकार—का कोलाहल आजकल हिन्दी के बाजार में सुनाई देने लगा है। पर वास्तव में 'युग-साहित्य' है क्या चीज ? जिन लोगों द्वारा इस नये शब्दाख्यान का प्रचार हुआ है, वे इसके द्वारा एक ऐसे विश्व-क्रान्तिकारी साहित्यक युग की स्थापना का दम भर रहे हैं, जो निखिल कल्याणकारी सिद्ध होगा, और पिछले विश्व-साहित्य के अवशिष्ट चिह्नों को ध्वंस-भ्रंश करके स्वयं स्थायित्व और अमरत्व प्राप्त करेगा। अब देखना यह है कि उन लोगों का यह स्वप्न किस हद तक सफलता प्राप्त करने की समर्थता रखता है।

विश्व-जीवन-मार्ग की उपमा एक मनीषी ने एक विराट् पर्वतमाला से दी है। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में पहले कभी पहाड़ न देखा हो, वह यदि हिमालय यात्रा को निकले, तो प्रथम बार उसे जो पहाड़ दिखाई देगा, निश्चय ही वह उसका मन मुग्ध कर लेगा। जब वह उसकी चोटी पर पहुँचेगा, तब उसके मन में संभवतः यह धारणा बद्धमूल होगी कि वह सब से ऊँचे स्थान पर पहुँच गया है। पर कुछ दूर आगे बढ़ने पर उसे एक और चोटी मिलेगी, जो पहली चोटी से ऊँची होगी। वह सोचेगा—"पहले मैंने भूल की थी, पर अब मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यह पर्वत-शिखर सब से ऊचा है।" किन्तु वह जब कुछ दूर और आगे बढ़ेगा, तब उसे एक तीसरी चोटी मिलेगी, जिसकी ऊँचाई दूसरी से कई गुना अधिक होने की संभावना है। इस प्रकार वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता चला जायगा, त्यों-त्यों उसे एक-से-एक ऊँची चोटी पार करनी पड़ेगी।

महाकाल की यात्रा में मनुष्य के अनुभवों का ठीक यही हाल होता है। उसके आगे घटना-चक्रोंके स्तूप एक-एक करके ठीक उसी प्रकार आ खड़े होते हैं, जिस प्रकार पूर्वोक्त पहाड़ी यात्री के आगे एक से एक ऊँची पर्वत श्रेणियाँ। अपने संकीर्ण क्षितिज के बाहर देख सकने की दृष्टि सृष्टिकर्ता बहुत कम लोगों को देता है। फल यह होता है कि मनुष्य पर युगधारा का प्रभाव स्वभावतः बड़े गहरे रूप में पड़ता है। साधारण मनुष्य यह समझता है कि जिस नई भावधारा ने उसके युग को छा लिया

है। वह अभूतपूर्व और सर्वोत्तम है, तथा उसका अनुसरण करने से मानवीय प्रगति में मूलगत क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। पर कुछ ही समय बाद जीवन के जटिल मार्ग का एक चक्कर समाप्त होते ही वह विचारधारा विस्मृति के गह्वर में लुप्त होजाती है, और एक नई धारा उसका स्थान अधिकृत कर लेती है। कुछ समय तक वह उस नई धारा को लेकर मतवाला बना रहता है, और उसके प्रचार में भरसक कोई भी बात उठा नहीं रखता। जिस पिछली भावधारा ने कुछ समय तक उस पर गहरा प्रभाव डाला था, वह अब उसे एकदम तुच्छ जँचने लगती है। पर उस नये विचारवाद के परिपक्व होते-न-होते घटना-चक्रों के फेर से एक तीसरा मतवाद उसे मोहने लगता है और पिछला आदर्श आँखों से ओझल होता चला जाता है। प्रत्येक युगकी वाणी क्षणकाल के लिए उसके मन को, प्राणों को पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। पर कुछ समय बाद उस युगका भूत उसके सिर पर से उतर जाता है, और एक नया भूत इस प्रबलता से उसे धर दबाता है कि पिछले भूतकी कोई स्मृति ही उसके मनमें शेष नहीं रह जाती। सबसे अधिक शोचनीय बात यह है कि मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में एक ऐसे स्थिर बिन्दु तक कभी नहीं पहुँच पाता, जहाँ से वह अपने जीवन-कालीन युगधाराओं का विवेचन समग्र रूप से कर सके।

पूर्वोक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि युगधाराएँ निरन्तर परिवर्तन-शील होती हैं, और किसी एक युग के विशेष मतवाद के दृष्टिकोण से विश्व की चिरन्तन प्रगति के सम्बन्ध में कोई निश्चित राय प्रकट करना घोर दुस्साहसिकता है। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि जिस 'युग-साहित्य' की घोषणा हमारे नवीन आलोचकगण प्रगति के नव नारों के साथ कर रहे हैं, वह एक क्षणिक भावोत्तेजनामूलक बाढ़ की पूर्व सूचनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहिए कि एक नये साहित्यिक फैशनका डंका हिन्दी-जगत् में पीटा जाने लगा है। जिस प्रकार विलासियों के फैशन की आमद पश्चिम से होती है, उसी प्रकार वर्तमान युग के साहित्यिक फैशनों का आयात रूप से हो रहा है। पर जिस प्रकार हमारे देश के विलासी सम्प्रदाय में वे फैशन प्रचलित दिखाई देते हैं जिन्हें यूरोपवासी कई दशाब्दियों पहले परित्याग कर चुके हैं, उसी प्रकार ये नये साहित्यिक फैशन भी हमारे देश में दशाब्दियों बाद पहुँच पाते हैं। फल यह देखने में आता है कि जिस नकारवादी (nihilist)

साहित्य का प्रचलन रूस में प्रायः अस्सी वर्ष पहले हुआ था, और प्रचलित होने के कुछ ही वर्ष बाद जो साहित्य विलीन होकर केवल साहित्यिक इतिहास के पृष्ठों में उल्लिखित होने योग्य रह गया था, उसे आज हमारे तथाकथित प्रगतिवादी इस सरगर्मी से अपना रहे हैं, जैसे उन्हें विश्व समाज के सब रोगों की एक अपूर्व रामबाण औषधि प्राप्त हो गई हो। उन्हें पता नहीं है कि जिस समाज-ध्वंसवादी विनाशात्मक साहित्य को वे लोग इतना महत्त्व दे रहे हैं, उसके प्रयोग जब-जब जिस-जिस देश के साहित्य-क्षेत्र में हुए हैं, तब-तब उनकी असफलता अत्यन्त शोचनीय रही है और उसका परिणाम घातक सिद्ध हुआ है। कारण यह है कि विनाश और विध्वंस की नींव पर कभी कोई साधारण निर्माण-कार्य भी नहीं हो सकता, साहित्य-निर्माण के महान कार्य के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।

जिस घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा और उच्छृङ्खलता की भावना का आलोड़न उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रूसी-साहित्य में हुआ था, वही आज हमारे साहित्य-क्षेत्र में दिखाई देने लगा है। इस प्रकार की भावनाओं की नींव पर किसी महासाहित्य के निर्माण का स्वप्न देखना कितना हास्यास्पद है, यह बात समय शीघ्र ही देगा। मजूरों और किसानों के प्रति समानुभावता और प्रेम की आड़ में जिस घोर प्रति-हिंसात्मक, विद्वेषमूलक, विनाशवादी, अनियन्त्रित साहित्य का रोग 'गैलपिंग थाइसिस' (क्षिप्रगतिमें बढ़नेवालेक्षयरोग) की तरह हमारे साहित्य-जगत् को आक्रान्त करने जा रहा है, उसका एक कारण छाया-वादी युग की निर्द्वन्द्व भाव-विलासिता के बाद की स्वाभाविक जड़ता-जनित प्रतिक्रिया भी है। नशीले पदार्थों का सेवन करनेवाले व्यक्तियोंका रक्त दूषित हो जानेके कारण उन्हें अपनी जिह्वा की अरुचि-जनित जड़ता दूर करने के लिए बीच-बीच में तीक्ष्ण और विदाही मसालों से युक्त चरपरे भोजनकी इच्छा हो जाती है। ठीक यही हाल इस समय हमारे भूतपूर्व छायावादी और वर्तमान प्रगतिपंथी कवियों तथा आलोचकों का है। उनकी साहित्यिक रसना छायावादी मादकता के अतिरिक्त सेवन से दूषित हो उठी है और उसका स्वाद बिगड़ गया है, इस कारण शोषितवर्गीय जनता के प्रति कृत्रिम सहृदयता को अपनी ओट बनाकर वे चटपटे मसालेदार उच्छृङ्खलतावादी साहित्य की ओर टूट पड़े हैं। सभी जानते हैं कि 'लिवर'की शिकायत में इस प्रकारका कुपथ्य यद्यपि प्रिय लगता है,

तथापि उसका परिणाम रूस के कुपरिणाम से कुछ कम हानिकारक नहीं होता। वर्तमान 'युग-साहित्य' के जिस वासी रस को हमारे प्रगतिवादी साहित्यिक नूतन अमृतरस समझे बैठे हैं, वह निश्चय ही युग के बीत जानेपर अपना विषैला प्रभाव दिखाकर रहेगा। अतएव विषरस-भरे इस कनक-घट से बचकर चलने की चेतावनी हमारे तरुण, अनुभवहीन साहित्यिकोंको इसकी परम आवश्यकता आ पड़ी है।

कोई भी युग-साहित्य कभी चिर-साहित्य नहीं हो सकता। कितने ही राजनीतिक मतवाद और सामाजिक अनुशासन संसारमें आए और गए, जो-जो साहित्यिक रचनाएँ उन मतवादों के प्रचार के लिए लिखी गईं, वे भी उन्हीं के संग विलीन हो गईं। पर अमृत के वरपुत्र विश्व-कवियों और मनीषियोंने शाश्वत विश्व-जीवनके मर्म में अपनी अन्तरात्मा को निमग्न करके जो अमर रचनाएँ अपने युगके विचारों के प्रचार के लिए नहीं, बल्कि समग्रकालीन मानवता के आनन्द और कल्याण के लिए लिखीं, केवल वे ही शताब्दियों के चक्र- संघर्षों के पेषण से बचकर स्थायी रह पाई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि युग-युग में श्रेष्ठ साहित्य के बाह्य रूप बदलते रहे हैं। बाल्मीकि-रामायण का जो ढंग और ढाँचा था, रघुवंश और कुमार-संभवका उससे बिलकुल भिन्न रहा; रघुवंशका जो स्वरूप था, तुलसीदास की काव्य-रचना में उसका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ साहित्य के बाह्य रूपों में भी युग-प्रभाव अवश्य पड़ता है—पर स्मरण रहे कि केवल बाह्य रूपों में पड़ता है, आन्तरिक उपादानों में नहीं; क्योंकि बाल्मीकीय रामायण में हम जो काव्यगत मूल सौन्दर्य पाते हैं, रघुवंश का अन्तर्निहित सौन्दर्य उससे तनिक भी भिन्न नहीं है, और तुलसीदास की काव्य-रचना में मूलतः उसी सौन्दर्य का परिस्फुटन हुआ है।*

अमर कलाकार चिरकाल से अपने-अपने युग की भावाधाराओं की बाढ़में कभी बहे नहीं हैं; उन्होंने युग के प्रभाव को अपनी रचनाओं के बाहरी ढाँचों तक सीमित रखा है बस; उसके आगे उन्होंने उसे बढ़ने नहीं दिया है।

---

* पूर्वोक्त तीनों रचनाओं के मूलगत उपादन एक ही हैं, इस सम्बन्ध में प्रगतिवादी भी मुझ से एक मत हैं, क्योंकि उनके मत में तीनों का मूल बीज पूँजीवादी मनोवृत्ति है। लेखक—

पर जहाँ युग का प्रभाव साहित्य का मूल उपादान बन बैठता है, वहाँ यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि युग के साथ ही ऐसे साहित्य का विनाश अवश्यम्भावी है।

सभी प्रकार के फैशन—चाहे वे समाजिक हो, चाहे राजनीतिक चाहे साहित्यिक—धूमकेतु के आडम्बर के साथ क्षणकाल के लिये आते हैं और कुछ समय के लिये एक तूफान सा मचाकर धूमकेतुओं के समान ही लुप्त हो जाते हैं। जो कवि अथवा लेखक अपने युग के फैशन को पूर्णरूप से अपनाकर उसे एक सुन्दर पालिश किया हुआ रूप देने में विशेष सफलता प्राप्त कर लेता है, उसे उसके युग में गड्डलिका-प्रवाह पंथी आलोचकगण अमरत्व का पद प्रदान करने के लिये उत्सुक हो उठते हैं। दस-बीस वर्ष बाद जब किसी ऐसे कलाकार की कृतियों का युगान्त हो जाता है, तो उसके अमरत्व का पद छीनकर किसी दूसरे ऐसे लेखक को मिल जाता है, जो अपने युग की 'प्रगति' में सबका मुखिया बनने के कला-कौशल में दूसरों के कान काटता हो। पर शीघ्र ही उसका भी समय आता है, क्योंकि उसके युग के साहित्यिक फैशन की अवधि पूरी होने में अधिक देर नही लग सकती, और फैशन के अन्त के साथ ही युगपंथी आलोचकों द्वारा प्रदत्त अमरासन से उसे भी च्युत होने को बाध्य होना पड़ता है। जर्मनी के एक युगधर्मी कवि (आगस्ट फान प्लाटेन) ने म्यूलर नामक एक नाटककार को विश्व-विख्यात नाटककार शिलर से कई गुना अधिक श्रेष्ठ बताया था। आज म्यूलर का नाम केवल 'मिश्र-बन्धु-विनोद' श्रेणी की दीर्घ साहित्यिक लिस्टों के अतिरिक्त और कहीं नही मिलता।

वर्तमान शताब्दीके प्रारंभ से लेकर वर्तमान समय तक कितने ही व्यक्ति अपने युग के सर्वश्रेष्ठ पुरुष घोषित किये जा चुके हैं। पर यह महान् गौरव एक वर्षसे अधिक समय तक किसी विरले ही व्यक्ति के सम्बन्ध में स्थिर रह सका है। अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष तक यह विशेषत्व अपने युग के तथाकथित महापुरुषों को प्राप्त होता है। दस वर्ष तो चरम सीमा है। युगधर्मी आलोचकों के प्रचार-प्रभाव से कुछ पुस्तकें क्षणकाल-के लिए सातवें आसमान पर चढ़ जाती हैं, और कुछ समय तक जनता मे केवल उन्ही पुस्तकों की चर्चा रहती है। विगत महायुद्ध के बाद ओजवाल्ड स्पेंगलरने 'पाश्चात्य सभ्यता का विनाश' शीर्षक एक पुस्तक

लिखी थी। महायुद्ध की आतंककारी अनुभूतियाँ उस समय यूरोपियन जनता के मन पर ताजी थीं। स्पेंगलरने ठीक मनोवैज्ञानिक समय पर वह पुस्तक लिखी, जिसका फल यह हुआ कि साधारण-से-साधारण पाठक से लेकर विश्वविद्यालयों के अध्यापक उसका गुणगान करने लगे। उसका बड़ा प्रचार हुआ और लाखों कापियाँ बिकीं। बहुत-से आलोचकोंने यहाँ तक कहा कि स्पेंगलर की प्रतिभा अरस्तू और अफलातून से बहुत आगे बढ़ गई है, और उक्त दो ग्रीक लेखकों की अमरता उतनी निश्चित नहीं, जितनी स्पेंगलरकी है। पर शीघ्र ही युगधर्म ढहने लगा। युद्ध के कारण जो श्मशान-वैराग्य यूरोपवासियों में समा गया था, वह स्वभावतः मिट गया, और उसके स्थान में फिर से प्रतिहिंसा की आग भीतर-ही-भीतर धधकने लगी। फल यह हुआ कि जर्मनी में हिटलर ने अपना अधिकार जमा लिया। शान्ति और वैराग्य के अवशिष्ट चिह्न योरोपवासियों के अंतर से कुचल डाले गये। फिर से दानवी शक्ति की विजय का डंका पीटा जाने लगा। देखते-ही-देखते प्रायः सारे यूरोप में हिटलर-राज का आंतक छा गया। ओज़्वाल्ड स्पेंगलर के विचारों की जिस पुस्तक की पूजा एक दिन जर्मन लोग करने लगे थे, आज वह प्राचीन पुस्तकों की किसी लायब्रेरी में पड़ी हुई गर्द-समाच्छन्न होकर अपने भाग्य कोस रही होगी। 'आल क्वाइट आन दि वेस्टर्न फ्रन्ट' नामक पुस्तक की भी ठीक यही दशा हुई। इस पुस्तक के छपते ही उसकी लाखों कापियाँ (मूल अथवा अनुवाद-रूपमें) सारे संसार में धड़ाधड़ बिक गईं। उसके लेखक रेमार्क की धाक साहित्य जगत में वैसी ही जम गई, जैसी राजनीतिक जगत में आज हिटलर की जमी हुई है। पेशेवर युगधर्मी आलोचकों ने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक करार दे दिया। उन लोगों ने एक स्वर से यह घोषित किया कि 'आल क्वाइट आन दी वेस्टर्न फ्रन्ट' के लेखकने अपनी रचना में जिस नई शैली और नई कला का प्रस्फुटन किया है, वह वास्तविक अर्थ में प्रगतिवादी है और पिछले आचार्योंकी दकियानूसी औपन्यासिक कला का अब कोई मूल्य उसके आगे न रहा। पर उसकी वह 'अमर प्रतिष्ठा' मुश्किल से दो या तीन वर्ष तक जीवित रह सकी, और आज तो यह हाल है कि लोग उसका नाम तक भूल गये हैं। आश्चर्य की बात है कि जिन औपन्यासिक आचार्यों (हार्डी, टाल्सटाय, दस्तायवस्की आदि) की रचनाओं को युगधर्मी साहित्य विचारकों ने रूढ़िवादी और 'आउट आफ फैशन' करार दे दिया था, उनका आदर

कला-प्रेमी सुसंस्कृत जनता से घटने के बजाय बढ़ता ही चला जाता है। वर्तमान महायुद्ध के बाद फिर एक बार युग-परिवर्तन होगा और बहुत-से वर्तमान मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन होगा। पर वह आगामी युग-भावना भी मुश्किल से एक आध दशाब्दी तक स्थिर रह सकेगी।

इस प्रकार आँधियाँ समय-समय पर आती रहती हैं, और एक प्रबल झटके से 'जीर्ण और पुरातन' को ध्वंस-भ्रंश करने का भरसक प्रयत्न करके शीघ्र ही अनन्त शून्य में विलीन हो जाती हैं। उनके चले जाने पर 'जीर्ण और पुरातन', जो कि हिमाचल समान अचल और अटल, अनादि और शाश्वत है, त्र्यम्बक के समान अट्टहास कर बैठता है।

दलितवर्गीय जनता को लेकर आप लोग एक आत्मानुभूत, साधना-प्राप्त, सच्चे और सुन्दर साहित्य का निर्माण करने का सहृदय प्रयत्न करें। पर केवल नवीनता के उल्लास से उन्मत्त होकर अथवा लोकप्रियता प्राप्त करने की लालसा से अथवा एक विशेष वर्ग की जनता के प्रति विद्वेषकी भावना से प्रेरित होकर, अपने संकीर्ण अहंभाव की पूर्ति के लिये यदि आप 'युग-साहित्य' का निर्माण करना चाहें, तो मैं यही कहूँगा कि आप लोगों के इस आत्मघाती तथा साहित्यविनाशी प्रयत्न का घोर विरोध करना समाज के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है। शोषित श्रेणी की जनता की आत्माओं में आप जागृति के भाव भर, उनके जड़ प्राणों में नवीन स्फूर्ति और नवीन चैतन्य का संचार करने का प्रयास करें, उनके साथ एकात्म होकर उनके सदियों से विदलित हृदयों की मर्म-वेदना की यथार्थ अनुभूति प्राप्त करके अपनी कला द्वारा उसको अमरत्व प्रदान करें, इस बात से किसी भी समझदार व्यक्ति का कोई विरोध नहीं हो सकता। पर यदि आप आन्तरिक अनुभूति द्वारा प्रेरित न होकर केवल तथाकथित 'युग-भावना' की बाढ़ में बह कर, उसके स्वर में स्वर मिलाने के उद्देश्य से, अथवा केवल किसी एक-स्वर परिवर्तन की आकांक्षा से 'युग साहित्य' का निर्माण करनेका उद्योग करें और साथ ही यह स्वप्न देखें कि इस प्रकार का 'मेन्युफैक्चर्ड' साहित्य महाक्रान्ति का उन्नायक होकर अमरत्व प्राप्त करेगा तो समय निश्चय ही यह सिद्ध कर देगा कि आपकी यह धारणा आकाश कुसुम के सामान अत्यन्त भ्रामक है।

पहले ही कहा जा चुका है कि युग भावनाएं मेघों की तरह ही क्षण-स्थाई और अस्थिर होती हैं। प्रधानतः दो श्रेणी के व्यक्ति इन्हें अपनाने के लिये विशेष रूप से उत्सुक रहते हैं। एक तो वे जिनका उद्देश्य अपना कोई राजनीतिक अथवा सामाजिक स्वार्थ सिद्ध करना रहता है, और दूसरे वे जो गतानुगतिक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर भेड़ों की तरह उस गड्डलिका-प्रवाह के साथ चलने में ही अपनी कुशल देखते हैं— जिनमें उस प्रवाह से अलग रह कर अपनी स्वतंत्रता बुद्धि द्वारा चलने की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है। इन दूसरी श्रेणी के भेड़-पंथी व्यक्ति जानते हैं कि युग के प्रबल-प्रवाह से—चाहे वह कैसा ही अस्थाई क्यों न हो—अलग रहने से वे कदापि आत्मरक्षा नहीं कर सकते इसलिये वे अपनी पूर्ण शक्ति अपने परिचालकों के स्वर-में स्वर-मिलाने में लगा देते हैं, बल्कि कभी-कभी यशोलोभी गुरुओं के ये लालची चेले उनसे भी ऊँची आवाज में चिल्लाकर युग-धर्म के नारे लगाने लगते हैं।

कवियों और कलाकारों के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि उनमें स्वतन्त्र बुद्धि का कोई अभाव नहीं पाया जाता। पर हमारे कवियों का यह हाल है कि उनमें अहंभाव जितना ही प्रबल है, आत्म बुद्धि की स्वतन्त्रता की उतनी ही कमी है। यदि ऐसा न होता, तो वे आत्मानुभूत भावों और अन्तर्साधना द्वारा प्राप्त सत्य का प्रस्फुटन करना छोड़कर एक यंत्र मात्र न बनते।

हमारे साहित्य का इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है कि जिन प्रमुख कवियों और लेखकों से यह आशा की जाती थी कि वे गहन आत्मानुभूति की अन्तर्प्रेरणा द्वारा चिरकल्याणकारी महत् आदर्शों की स्थापना करके नवजीवन-संचारी भावों और रसों की ओर जनता को प्रेरित करेंगे, वे स्वयं प्रेरक न बनकर प्रेरित बन गए।

असल बात यह है कि हमारे नवीनतावादी अर्द्ध-प्राचीन साहित्याचार्यगण के अन्तर-रस का भंडार हो गया है, निःशेष, और अब उस रस द्वारा वे मधुलोभी पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। चूंकि लोक-प्रसिद्ध बनाये रहना ही उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य है इसलिए अन्तर्बल का अभाव होने पर उन्होंने ऐसे बाह्य साधनों को पकड़ना श्रेयस्कर समझा है, जिनके द्वारा उनकी लोक-प्रसिद्धि दूसरे रूप में कायम रह सके।

नवीनता के प्रति मोह भी उन कारणों में से एक है, जो हमारे कवियों और लेखकों को तथाकथित युग-साहित्य की ओर आकर्षित कर रहा है "नई आई, पुरानी को दूर करो"—इस लोकोक्ति की सार्थकता प्रत्यक्ष रूप से हमारे साहित्य-क्षेत्र में दिखाई देने लगी है। साहित्य में कूपमंडूक मनोवृत्ति की बद्धता को दूर करने के लिए नवीनता को अपनाना शिशुता और भेड़-पंथी मनोवृत्ति का परिचायक है। इस प्रकार की नवीनता हवाई आतिशबाजी की तरह क्षण-भर के लिए अपनी जगमगाहट दिखाकर तत्काल ही निर्वाण प्राप्त हो जाती है। साहित्य में किसी नये आदर्श को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसे सनातन पृष्ठाधार पर स्थापित करना पड़ता है, तभी उसकी सार्थकता स्थिर, निश्चित; सर्वकालीन और सार्वजनिक रूप धारण करती है। फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के समय के एक प्रगतिवादी कवि का कहना था कि "काव्य-कला के पुरातनत्व के आधार पर नये विचारों की स्थापना की जानी चाहिये।" जब तक पुरातन के विपुल विस्तार और हिमालय पर्वतोपम अचल शान्ति की भित्ति पर नवीन भावधारा की प्रगतिशील, भावोत्तेजनामयी चंचलता का विन्यास नहीं किया जायगा, तब तक 'युग-साहित्य' फैशनेबुल बाजारू साहित्य के पर्याय से ऊँचा उठकर महा-साहित्य के शाश्वत पद तक कदापि नहीं पहुँच पायेगा। और जो युग-साहित्य स्थायी साहित्य की कोटि तक नहीं पहुँच सकता, उसकी क्षणिक कूद-फाँद व्यर्थ ही है।

नवीन धारा के कवियों में जो तूफानी आवेग और आन्तरिक विद्रोह की अशान्ति के चिह्न पाए जाते हैं, कदाचित् उनमें किसी अंश तक सहृदयता और सचाई वर्तमान हो। पर वर्ड्सवर्थ के कथनानुसार "प्रकृति गहन मार्मिकता का आदर करती है, आत्मा के तूफानी आवेग का नहीं।" फिर भी हम यह कामना करते हैं कि वर्तमान साहित्यिक युग का इस अशान्ति और विद्रोह की आँधी प्रकृति के किसी रहस्यपूर्ण, अज्ञात नियम की माया से एक ऐसा मंगलमय बीज हमारे साहित्य की भूमि में उड़ाकर लाने में सफलता प्राप्त करे, जो पनपकर एक विश्व-कल्याणकारी महावृक्ष के रूप में परिणत हो सके और अपनी प्रशान्त छाया में विश्व-प्रेम, विश्व-शान्ति और सार्वजनीन [illegible]

छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ ?

प्रस्तुत लेख का शीर्षक पढ़कर पाठकों को अवश्य ही कुछ आश्चर्य होगा। शीर्षक में भविष्यत्-सूचक क्रिया का प्रयोग न होकर भूतकालीन क्रिया व्यवहृत हुई है। यह प्रश्न स्वभावतः उठेगा कि क्या सचमुच छायावादी कविता का विनाश पहले ही हो चुका है, अथवा वह विनाश की ओर जा रही है? व्यक्तिगत रूप से मेरी यह ध्रुव धारणा है कि छायावादी कविता मूलतः विनष्ट हो चुकी है, और साथ ही मैं यह विश्वास करता हूँ कि जिन लोगों की दृष्टि में कोई खराबी नहीं आई है, वे मेरी इस बात से पूर्णतः सहमत होंगे। बात वास्तव में भूतकाल की हो गई है। तीन-चार वर्ष पहले ही 'युगान्त' हो चुका है, और छायावादी कविता का मृत शरीर पड़ा-पड़ा सड़ रहा है यद्यपि उसकी प्रेतात्मा कभी-कभी अपनी झलक दिखाकर उसके प्रेमियों को घोर मोह में डाल जाती है।

केवल छायावादी कविता ही नहीं, सच पूछा जाय तो अब हिन्दी-कविता मात्र के युग का अन्त हो चला है। और ऐसा होना सम्पूर्ण स्वाभाविक था। प्रायः पन्द्रह वर्षों से हिन्दी-कविता अपने विनाश का बीज स्वयं अपने साथ वहन करती चली जा रही थी। नपुंसकता में उसकी उत्पत्ति हुई थी, अहमिका और विलासिता के अस्वास्थ्यकर रस से उसका पोषण हुआ और स्वभावतः उच्छृङ्खलता में उसकी परिणति हुई। जो कविता स्वास्थ्य और शक्ति की सुदृढ़ भित्ति पर अवलम्बित न होकर वासना-विगलित हृदय के तरल मधुर विष की मादकता में निराधार बहती चली जाय, उसका नाश अवश्य ही अपने आप होगा; उसे मिटाने के लिए किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती।

छायावादी कवियों ने हमें दिया क्या? केवल अपने रुग्ण हृदयों की अलस रसावेशमयी भावनाओं के वासनोद्गारों से सारे साहित्यिक वातावरण को विषमय करने के अतिरिक्त उन्होंने और किया क्या? तिस पर मजा यह कि 'अनन्त' और 'असीम' की प्राप्ति की आकांक्षा 'परमात्मा से आत्मा के मिलन' के नाम पर मधुर-कोमल-कान्त

पदावली के माध्यम से ये सब आत्मघाती और क्षयरोग के कीटाणुओं की तरह विनाशकारी तरल-गरलमय भाव हिन्दी-जगत् की जनता के मर्मस्थल पर 'इनजेक्ट' किए जाते रहे। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे एक क्षयरोग-ग्रस्त सुवृहत् कवि-समाज उस घातक अफीम के रस से मद-विभोर हो उठा, और चारों ओर से एक अस्वास्थ्यकर मीठी और झूठी वेदना की बाढ़ ने समस्त साहित्य-संसार को आप्लुत कर लिया। आज उस बाढ़ में छायावादी कविता स्वयं बूड़ गई है।

इस नपुंसकता-जनित वेदना की विलासोन्मत्तता की प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। और छायावादी कवियों के आचार्यों पर ही इस प्रतिक्रिया का सब से जबर्दस्त प्रकोप हुआ। वर्तमान 'प्रगतिशीलता' के रूप में इस प्रतिक्रिया ने अपना उच्छृङ्खल औद्धत्य दिखाना शुरू कर दिया है। लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि 'प्रगतिशील' कविता का आचार्यत्व भी दो-एक प्रमुख छायावादी कवियों ने ही प्राप्त किया है। पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। चूँकि (जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है) वर्तमान 'प्रगतिशीलता' छायावादी कविता की कलित-कोमल नपुंसकता की ही प्रतिक्रिया है, इसलिये स्वभावतः 'डिकेडेन्ट' (गलित) कविता के आचार्य ही तथाकथित 'प्रगतिशीलता' की उच्छृङ्खलता को सब से अधिक सरगर्मी से अपना रहे हैं। नये मतवाद में दीक्षित होनेवाले ये भूतपूर्व छायावादी कवि स्वयं अपनी पिछली 'रोमान्टिक' कविता को प्रतिक्रियावादी बताने लगे हैं पर यह बात वे जान-बूझकर भूल जाना चाहते हैं कि वास्तव में उनका 'प्रगतिशीलतावाद' स्वयं 'प्रतिक्रियावाद' है (क्योंकि छायावादी कविता की प्रतिक्रिया के रूप में ही उसने जन्म लिया है)।

हमारे प्राचीन तत्त्वदर्शियों ने कहा है कि जो लोग कोरी 'विद्या' (अध्यात्मवाद की हवाई शून्यता) के पीछे पागल रहते हैं, वे उन लोगों से भी अधिक गहन अन्धकार में भटकते रहते हैं, जो कि केवल कोरी 'अविद्या' (जड़वादी यथार्थता) को भजते हैं। अन्धकार में दोनों भटकते हैं, पर केवल कोरी भावुकता और कोरे अध्यात्मवाद (अथवा रहस्यवाद) की 'एब्सट्रैक्ट' शून्यता में उड़ान भरनेवालों की अपेक्षा उन लोगों को हमारे उपनिषत् काल के ज्ञानियों ने अधिक समझदार माना है, जो जड़वाद की पक्की जमीन को जकड़े रहते हैं। विद्या और

[illegible] के सुन्दर सामंजस्य को उन्होंने सर्वोत्तम बताया है। हमारे छायावादी कवियों ने अपनी रहस्यमयी वासना की डोर से काल्पनिक [illegible] के हाइड्रोजन से भरे हुए रंगीन भाव-रूपी छोटे-छोटे बैलूनों को [illegible] प्रतिबार डोर को तोड़ डाला, और प्रतिबार वे बैलून निरुद्देश्य [illegible] में अनन्त के पथ पर भटकते हुए, अलक्ष्य दिशा की ओर उड़ते हुए शून्य में विलीन होते गए। महाकवि गेटे ने एक विशेष प्रकार की श्रेणी के व्यक्तियों के लिए कहा है—"Men with great passions in their hearts, but no marrow in their bones."—अर्थात् 'ऐसे मनुष्य जिनके हृदयों में महत् वासनाओं का तूफान मचा रहता है, पर जिनके शरीर की अस्थियों में उस तूफान के प्रवेग को सहन कर सकने योग्य सारतत्त्व नहीं है।' हमारे छायावादी कवियों की वासनाएँ महत् तो नहीं कही जा सकती (महत् वासना का जन्म महाप्राणता से होता है, और हमारे कवियों में प्राणतत्त्व की कमी प्रधान रूप से रही है) पर जिन हल्की थोथी-सी वासनाओं के आलोड़न-विलोड़न से वे प्रताड़ित रहे हैं, उनका भार वहन कर सकने योग्य सारतत्त्व भी उनकी अस्थियों में नहीं रहा है।

असल बात यह है कि हमारे कवियों में प्राणों की गहरी अनुभूति और जीवन की मार्मिक वास्तविकता के अनुभव का सर्वथा अभाव रहा है। इन दो परम महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का अभाव जिस कविता में हो, वह कभी कलात्मक नहीं कही जा सकती। छायावादी कविता जीवन को तलाक देकर एक उच्छृङ्खल, निर्द्वन्द्विनी नारी की तरह हमारे साहित्य-जगत् में अवतीर्ण हुई, इस प्रकार की नारी के प्रति [illegible] साहित्यिकों का आकर्षित होना सम्पूर्ण स्वाभाविक था—विशेषकर जब कि उसका सजाव-शृङ्गार और 'पालिश' नकली होने पर भी भड़कीला था। यही कारण था कि उसने इतनी शीघ्रता से लोकप्रियता प्राप्त कर ली। उसने चाय, सिगरेट आदि प्रतिदिन की नशीली चीजों की तरह एक ऐसे मादक रस का आदी हमारी साहित्यिक जनता को बना दिया कि उसके बिना साहित्यिक जीवों का जीना कठिन हो गया। यही कारण था कि इधर प्रायः दस-बारह वर्षों से साहित्यिक पत्रों में प्रायः ९५ फी-सदी आलोचना केवल छायावादी कवि और उनकी कविता को लेकर ही रही, साहित्य के अन्य प्रधान अंगों (उपन्यास, कहानी, नाटक, आदि की आश्चर्यजनक उपेक्षा देखने में आई। बंगाली कवियों तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं

से उधार लिये गए ललित शब्दों तथा सुकुमार वाक्य-व्यंजनाओं का ऐसा जाल हमारे 'मूल' छायावादी कवियों ने हिन्दी-साहित्य-संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला दिया कि जितनी दूर तक दृष्टि जाती थी, उसके अतिरिक्त और कुछ नजर ही नहीं आता था। जिस अनन्त शून्यमय रंगीन हवाई दुनिया का मार्ग छायावाद के आचार्यों ने उद्-घाटित कर दिया, उसका विस्तार स्वभावतः इतना अधिक था कि सिनेमा-जगत् की भावुकता की गैस से भरे हुए असंख्य तरुण हृदयों ने सोडावाटर की बोतलों की तरह विस्फोटित होकर अपने फफोले फोड़कर बिना किसी रोक टोक के उसे 'वेदना की बाढ़' द्वारा आप्लुत करना शुरू कर दिया। शेक्सपियर ने जिस airy nothing (हवाई शून्यता) का उल्लेख किया है, उसके मोह में पड़कर हमारे कवियों ने साबुन के बुलबुलों की तरह अपनी फेनिल भावराशियों को आकाश में उड़ाने चले जाने में ही काव्यकला की चरम सार्थकता समझी। जीवन की गहराई और उसकी वास्तविकता से उनकी कायरता बार-बार हैमलेट की तरह उनके कानों में कहने लगी काश कि यह अत्यन्त ठोस मांसपिण्ड पिघलकर एक ओस-बिन्दु में परिणत हो जाता !

फल यह हुआ कि वे लोग जीवन की जड़ों से—दुःखिता, धूसरिता, असंख्य यातनाओं से क्षत-विक्षत धरित्री माता की मिट्टी से—कोई सरोकार न रखकर आसमान के सितारों, शून्य में निरुद्देश्य भटकने वाले बादलों, अनन्त जलराशि की ऊपरी सतह पर अठखेलियाँ करने वाली लोल-लहरियों के विलास के राग अलापने लगे। जो कवि इस मृत्तिका-संग-स्पर्श-वर्जित प्रकृति की कोरी स्तुति से बचे वे अपनी काल्पनिक प्रियतमाओं को बादलों, तारकों, लहरों, चन्द्र-किरणों और सान्ध्य-छायाओं में ढूँढ़ने लगे। यह प्रकृति-प्रेम और काल्पनिक 'प्रिय' के मिलन की हवाई आकुलता भी यदि उनकी मूल अन्तर्प्रेरणा के प्रवेग से फूट पड़ी होती, तो भी एक बात होती; पर यह केवल एक अकर्मण्य युग के अलस-रसावेशमय वातावरण में उत्पन्न हुये 'कवियों' की विशुद्ध अनुकरण प्रियता का फल था। अनुकरण की यह प्रेरणा हमारे इन आत्मकामी कवियों को प्रधानतः रवीन्द्रनाथ की एक विशेष प्रकार की कविता से (उनकी सब प्रकार की कविताओं से नहीं) और उसके बाद शेली, कीट्स आदि रोमान्टिक अंग्रेज कवियों से प्राप्त हुई। मेरे कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि केवल अनुकरण की लालसा से ही उन्होंने

अनुकरण किया। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस युग में हमारे इन 'क्रान्तिकारी' छायावादी कवियों ने जन्म लिया, उसमें छायामयी माया के इन्द्रधनुषी वाष्पीय वातावरण का हलका आभास पहले से ही समय के अज्ञात रहस्यमय प्रभाव के कारण वर्तमान था, जिसने हमारे इन स्नायविक दुर्बलता से ग्रस्त और साथ ही अनुभूतिशील कवियों के हृदयों को एक अर्थहीन, लक्ष्यरहित तथा निराधार स्वप्न जाल की रंगीनी से बुरी तरह आच्छादित कर लिया। उसकी मोह माया ने उन्हें ऐसा मुग्ध कर लिया और उनकी आँखों में ऐसी चकाचौंध भर दी कि वे उसके अतिरिक्त और कुछ देख ही न पाये। फल यह हुआ कि रवीन्द्रनाथ की एक विशेष प्रकार की कविताओं की ऊपरी सतह में (उनकी गहराई में नहीं, क्योंकि गहराई में जाने के लिए जिस धैर्य, आत्म-संयम और मानसिक स्थिरता की आवश्यकता है, उसका उनमें सर्वथा अभाव था जो एक अपूर्व मनोहर fantasy उन्हें दिखाई दी, उसने उनके हृदयों को भौतिक माया की तरह धर दबाया। सभी जानते हैं कि जब किसी व्यक्ति को भूत लगता है, तब उसकी आत्मा भूत के साथ एक रूप हो जाती है, और वह अपने को स्वयं भूत समझकर बात करता है। यही हाल हमारे कवियों का हुआ,—रवीन्द्रनाथी कविता का भूत जब उन पर सवार हुआ, तो उनकी रंगीन कल्पना ने उस कविता की ऊपरी भावधारा को अनजान में अपनाकर उन लोगों के मन में यह घोर भ्रम पैदा कर दिया कि वास्तव में रवीन्द्रनाथादि नहीं, बल्कि वे ही उस भावधारा के मूल आचार्य हैं; और जिस प्रकार भूत-प्रेतों पर विश्वास करने वाले दर्शक भूतग्रस्त व्यक्ति को तत्काल के लिये वास्तव में मूल भूत ही समझते हैं, उसी प्रकार छायावाद के मूलग्रस्त कवियों को हमारी साहित्यिक जनता के एक विशेष सम्प्रदाय ने मूल कवि मानना शुरू कर दिया और उनकी 'मौलिकता' का डंका बड़े जोरों से पीटा जाने लगा।

मैं मानता हूँ कि नकल के लिये भी अक्ल की आवश्यकता होती है, और इस अक्ल की कोई कमी मैंने छायावादी कवियों में नहीं पाई है। नकली हीरे असली हीरों से अधिक चमकते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। इसलिए रवीन्द्रनाथादि कवियों की कविताओं से हमारे छायावादी कवियों की कविताओं में चमक-दमक का आधिक्य होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि हिन्दी के प्रकाश-लोभी

कविता-प्रेमी पाठक धीरे-धीरे अधिकाधिक संख्या में रवीन्द्र के सूक्ष्म तेज से आलोकित उन नकली हीरों की नीरस द्युति में रमने लगे।

जिन लोगों ने गेटे का अध्ययन किया है, उनसे यह बात छिपी नहीं है कि उसने मुक्त भावाकाश में कैसी ही ऊँची उड़ान क्यों न भरी हो, पर उसके पाँव सदा ठोस ज़मीन के ऊपर जमे रहते थे। कालिदास की शकुन्तला की प्रशंसा उसने केवल इसी मूल कारण से प्रेरित होकर की थी कि उसमें स्वर्ग और मर्त्य का अपूर्व सामंजस्य पाया जाता है। 'विद्या' के साथ 'अविद्या' की सुन्दर संगति संसार के प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार का यही लक्ष्य रहा है। समुद्र की लोल-लहरियों का लीला-लास्य रवीन्द्रनाथ को सदा मुग्ध करता रहा है, पर उस के अनन्त गति की चंचल उच्छृङ्खलता में वे बह नहीं गए हैं। समुद्र ने उन्हें मूलतः इस कारण आकर्षित किया है कि वह ठोस पृथ्वी का जन्मदाता है ('हे आदिजननि सिन्धु ! वसुन्धरा सन्तान तोमार—' आदि पंक्तियाँ इसके प्रमाण हैं)।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी कल्पना की उड़ान को कोरे abstraction की ओर कभी निर्द्वन्द्व अवस्था में प्रेरित नहीं किया है। जीवन की कठोर वास्तविकता को, ठोस पृथ्वी के जीवन-मृत्यु चक्र को, एक क्षण के लिये भी उन्होंने नहीं भुलाया है। उनकी 'स्वर्ग हइते विदाय', 'धरित्री' आदि कविताओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वह स्वर्ग के देवताओं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :—

स्वर्गे तव बहुक अमृत ;
मर्त्ये थाक् सुखे-दुःखे अनन्त-मिश्रित
भूतलेर स्वर्गखण्डगुलि।

अर्थात्—'तुम्हारे स्वर्ग में (विशुद्ध) अमृत बहता रहे; पर हमारे मर्त्यलोक में अनन्त सुख और दुख से मिश्रित छोटे-छोटे पार्थिव स्वर्गखण्ड चिरकाल तक बने रहें।'

अपने जीवन-देवता को लक्ष्य करते हुए वह लिखते हैं—'एकाधारे तुमिइ आकाश, तुमि नीड़ !' अर्थात्—'तुम आकाश और नीड़ दोनों

हो। नीड़ से कठोर वास्तविक जीवन की शृङ्खला और आकाश से निर्मुक्त कल्पना की उद्दाम उड़ान का बोध होता है। अर्थात्—"विहग राग जीवन पर भारू, चहाँ नंग जनु सँग सैलाक।" जीवन की डोर को तोड़कर कोरी कल्पना की पतंग को साइक्लोन के बहाव में अनन्त शून्य आकाश में छोड़ने का पक्षपाती संसार का कोई बड़ा कवि नहीं रहा है। विद्या तथा अविद्या, पृथ्वी और आकाश, concrete तथा abstract, वास्तविकता तथा कल्पना—गरज यह कि मूल प्रकृति के सभी द्वन्द्वात्मक भावों में साम्य और सामंजस्य स्थापित करना ही सभी महाप्राण कवि-कोविदों का केन्द्रगत उद्देश्य रहा है। जो कवि इस उद्देश्य से च्युत हुए हैं, केवल वे ही अपने जीवन के विभिन्न युगों में अस्वास्थ्यकर प्रतिक्रियाओं के तूफानी चक्करों के फेर में पड़कर छिन्न मेघ खण्डों की तरह उच्छृङ्खल अवस्था में निरुद्देश्य भटकते रहे हैं। हमारे छायावादी कवियों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है।

पहले ही कहा जा चुका है कि हमारे साहित्य-संसार की वर्तमान तथाकथित प्रगतिशीलता कोरी कल्पना के अस्वास्थ्यकर विलास की अनन्त शून्यता में तैरनेवाले कवियों तथा कलाकारों की मानसिक प्रतिक्रिया का निदर्शन है। पहले वे जीवन की वास्तविकता से भाग कर हैमलेट की तरह यह चाहते थे कि उनकी स्थूल मांसलता एक ओस-बिन्दु में परिणत हो जाय; उनकी इस अप्राकृतिक और एकांगीय कामना का फल यह हुआ कि वे अब वास्तविक ओसबिन्दु को भी मांसलता में परिणत करने के लिए अत्यन्त अधिक उत्कंठित हो उठे हैं। 'जीवन का फल' भी अब ठोस मांसपिण्ड के रूप में उनके आगे आना चाहिए, ताकि वे उसे 'दाँतों से काटें और चाभें' और जबान से 'चाटें और चूसें'। छायावादी युग में उनके 'प्रेम' की कल्पना इतनी अधिक 'स्वर्गीय' (और स्वाभावतः अप्राकृतिक) रही है कि अब उसकी प्रतिक्रिया के फल स्वरूप वे हमें प्रगतिशीलता के नाम पर पशुओं से प्रेम-कला सीखने का उपदेश देने लगे हैं। सच्चा मानवी प्रेम जो कि न कोरा स्वर्गीय है, न निरा पाशविक, बल्कि इन दोनों के सामंजस्य का सुन्दर निदर्शन है, उसे वरण करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं।

हमारे साहित्य के जो नवीन आलोचक 'प्रगतिशीलता' आविर्भाव को एक महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी युग का आवर्तन समझते हैं, उन्हें सचेत होकर उसकी यथार्थता की परख करने का

चाहिये। यदि प्रारम्भ में ही यह 'प्रगतिशीलता'-नामधारी प्रतिक्रिया-वाद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा शक्ति तथा स्वास्थ्यपूर्ण स्वाभाविकता की ओर नियोजित नहीं किया जायगा, तो यह अपनी धार में कला के उन सारवान तत्त्वों तथा उपादानों को भी बहा ले जायगा जो हमारे साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में अवशिष्ट हैं। क्योंकि इस सम्बन्ध में अब सन्देह की तनिक भी गुञ्जाइश नहीं रहनी चाहिये कि वर्तमान 'प्रगतिशील' प्रतिक्रिया हमारे छायावादी कलाकारों की अवास्तविक, एकांगीय, अस्वाभाविक तथा अस्वास्थ्यकर आसमानी भाव-विलास का परिणाम है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में फ्रेंच-साहित्य से यही एकांगीय मनोवृत्ति और उसकी प्रतिक्रिया का प्रकोप साथ-साथ देखने में आते थे। फ्रेंच आलोचक डुमी ने अपने देश की तत्कालीन साहित्य धारा का वर्णन करते हुये लिखा था कि "जीवन के प्रति एक प्रकार की आलस्यपूर्ण जड़ता का-सा भाव, वर्तमान युग के प्रति असन्तोषमूलक घृणा, कला के मायावी माध्यम से दिखाई देने वाले किसी दूसरे युग में प्रवेश करने की लालसा, विरोधाभास के प्रति मोह, मौलिक बनने की आकांक्षा, 'सरलता' के प्रति एक भावुकतापूर्ण आकर्षण, अद्‌भुत रस के प्रति बच्चों की-सी श्रद्धा, रुग्ण भावुकतापूर्ण स्वप्नों की ओर झुकाव, स्नायु तन्तुओं को तड़ित्‌-वेग से पुलकित करने की तीव्र इच्छा और विलासिता या आत्मा को थकित कर देने वाला सम्मोहन"—ये मूल कारण उस युग के फ्रेंच साहित्य को परिचालित करते रहे हैं। हमारे छायावादी साहित्य के विकास और ह्रास के कारण भी मूलतः ये ही रहे हैं।

कला की साधना अपने नाश का बीज किस प्रकार अपने साथ वहन किए चली जाती है, इसका बड़ा सुन्दर निदर्शन टेनीसन ने अपनी विख्यात कविता The Palace of Art (कला-भवन) में किया था। इस कविता में टेनीसन ने यह प्रदर्शित किया है कि एक कला-प्रेमी, किन्तु जीवन-विद्वेषी—व्यक्ति किस प्रकार एक निर्जन स्थान में स्थित अपने सुन्दर भवन को विशुद्ध छायावादी भाव से पूर्ण अत्यन्त उत्कृष्ट, मनोरम तथा वैचित्र्यमय चित्रों से सजाता है, और मानव-जगत के प्रतिदिन के सुख-दुःखमय साधारण जीवन के स्पर्श से दूर अपने उस एकान्त निराले कलात्मक संसार में विशुद्ध सौन्दर्यानुभूतिमय आनन्द के रस में मग्न रहने की इच्छा रखता है। पर धीरे-धीरे उसे यह महसूस होने लगता है कि जीवन के स्पर्श से शून्य वह

छायावादी भौतिक माया की तरह चारों ओर से उसे घेर कर उसका दम घोटे जा रही है। वह पागलों की तरह चिल्लाता और कला के मूल प्राण—मानव जीवन की शाश्वत प्रगति से सम्बन्धित होने के लिए व्याकुल हो उठता है।

जीवन से विच्छिन्न होकर कोई भी भाव-धारा, चाहे वह कैसी ही सुन्दर क्यों न हो, अन्त में कभी कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकती, और न कभी वास्तविक उच्चकोटि की कला की श्रेणी में स्थान पा सकती है। हमारे छायावादी कवियों ने बहुत देर बाद इस सत्य को थोड़ा-बहुत हृदयंगम अवश्य किया है; पर इतने दिनों तक शून्य-लोक निःशक्त सौन्दर्य-साधना की प्रतिक्रिया ने उनकी आत्माओं को ऐसी विकृति से छा दिया है कि सुन्दर, स्वास्थ्यपूर्ण जीवन का आदर्श अभी तक उनके आगे प्रतिभासित नहीं हो पाया है। प्रगतिवाद के रूप में उनकी जिस जीवनाकांक्षा का आभास हमें मिलने लगा है, वह बहुत दिनों से भोजन-वंचित कंगाल की भूख की तरह है, जो एक गन्दे स्थान में पड़े हुए एक बासी, सड़े हुए अखाद्य टुकड़े पर भी झपट पड़ता है, और बड़े चाव से उसे खाता हुआ यह सोचता है कि उसने जीवन-पोषण के उपयुक्त मूल उपादान प्राप्त कर लिया। इसलिए 'गोरी न सही, साँवरी सही', किसी निश्चित पदार्थ के रूप में कुछ भी उसे मिले, उस पर वह आकाश में मँडराती भूखी हुई चील की तरह टूट पड़ता है,—अपने विगत-जीवन के abstract भाव-विलास के प्रति उसके मन में ऐसी उत्कट अरुचि उत्पन्न हो गई है। पहले ही कहा जा चुका है कि ऐसा होना सम्पूर्ण स्वाभाविक था।

स्मरण रहे कि नैतिकता के दृष्टिकोण से मैं प्रगतिवादियों पर किसी तरह के छींटे नहीं कसना चाहता। नीति-अनीति का प्रश्न कभी उच्चकोटि की कला के सम्बन्ध में खड़ा नहीं किया जा सकता। मेरे मत से "पाप भी यदि शक्तिपूर्ण है, तो वह श्रेष्ठ है; पुण्य भी यदि दुर्बल है तो वह तुच्छ है।...केवल निर्बल नीति को जकड़े रहने की चेष्टा कायरता का परिचायक है। हमारी संस्कृति सृष्टि रूपिणी होनी चाहिए, वन्ध्या नहीं। यदि गन्दगी में भी हमें ज्ञान, प्राण और शक्ति का बोध होता है, तो निःसंशय होकर उसकी जड़ खोदनी होगी। अपनी पुरातन नीति को बाह्यरूप में अक्षुण्ण रखने के लिए अत्यन्त सावधान होकर बच-बचकर चलने की चेष्टा अत्यन्त हास्यास्पद और व्यामोहात्मक है।" पर प्रश्न यह है कि हमारे वर्तमान प्रगतिवाद की

नैतिक उच्छृङ्खलता तथा सांस्कृतिक विद्रोह वास्तव में शक्ति पूर्ण हैं, अथवा उसकी प्रत्यक्ष तीव्रता केवल स्नायविक दौर्बल्य-जनित हिस्टीरिया से ग्रस्त एक श्रेणी विशेष के प्रतिक्रियात्मक प्रकोप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ? मेरा यह व्यक्तिगत मत है कि हमारे प्रगतिवाद की उत्पत्ति मूल प्राणशक्ति की प्रेरणा से नहीं हुई; और साथ ही मेरा यह विश्वास है कि कोई भी समझदार मनो-विश्लेषक उसे हिस्टीरिया के एक लाक्षणिक कार्य व्यक्ति के रूप में ग्रहण करेगा।

इस लेख में छायावाद और उसके विरोध में मैंने जो खरी किन्तु कड़ी बातें लिखी हैं, उन पर अवश्य ही एक बहुसंख्यक साहित्यिक जनता में असन्तोष का भाव फैलेगा। पर 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम' का जमाना अब गया। अप्रिय सत्य को स्पष्ट शब्दों में कहने की परम आवश्यकता अब आ पड़ी है। आज तक छायावाद के सम्बन्ध में मैंने जो मीठी और अस्पष्ट बातें लिखकर कन्नी काटता रहा हूँ, इसके कई कारण हैं, जिनमें सबसे प्रधान कारण यह रहा है कि अधिकांश छायावादी कवि मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, जिन्हें नाराज करना मेरे दुर्बल हृदय को अभीष्ट न था। इसके अलावा आज तक स्वयं मेरी मनोधारा छायावाद से मिलती-जुलती-सी रही है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी 'विजनवती' की काव्य-धारा बहुत-सी बातों में छायावादी कविता से मूलतः भिन्न है (और यही कारण रहा है कि छायावादी कवियों तथा आलोचकों को वह अपनी-सी चीज नहीं लगी है, और फलतः उसके सम्बन्ध में कोई निश्चित राय देने में वे बराबर अपने को असमर्थ महसूस करते रहे हैं), तथापि अन्य कोटि की कविताओं की अपेक्षा छायावाद से मेरी कविताओं का साम्य अधिक है। मैं अब अपने सम्बन्ध में भी स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि मेरी अधिकांश कविताओं में भी कल्पना के इन्द्रजाल की झूठी चमक-दमक निष्प्राण आत्म-विलास तथा निःशक्त अहम्मन्यता का वही पोपलापन वर्तमान है, जो छायवादी कवियों की कविता में।

इतने पर भी यदि कोई छायावाद का प्रेमी मेरे प्रति कटुता का भाव प्रकट करे, और यह कहना चाहे कि छायावाद का विनाश अभी नहीं हुआ है, और वह अपनी प्रस्फुटित अवस्था में है, तो मैं अपने पक्ष में छायावाद के अन्यतम आचार्य पन्त जी को पेश करूँगा। पन्त जी ने अपने 'युगान्त' द्वारा इस बात की एक प्रकार से स्पष्ट घोषणा कर दी है कि छायावाद की कोटि की कविता का युग अब बीत चला।

युगान्त' के कवरपृष्ठ में छायावाद के मृत शरीर का चित्र अंकित हो चुका है। अब सब साहित्यिकों को चाहिये कि उस लाश को, जो अब तक पड़ी हुई है और सारे वातावरण को अपनी उत्कट दुर्गन्ध से भरा कर रही है, शीघ्र ही जला दें। छायावाद की मृत्यु के लिए रोना और उसके मृत शरीर को घेरे रहने से अब कोई लाभ नहीं है। इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है।

स्मरण रहे कि छायावाद के सम्बन्ध में उन लोगों की निन्दा से मेरे विरोध का कोई साम्य नहीं है, जिन्होंने या तो विद्वेषवश, या या निर्बुद्धितावश, या बाबा आदम के जमाने की दकियानूसी कविता के प्रति ममतावश छायावाद का खण्डन किया है और छायावादी कवियों को गालियाँ सुनाई हैं। मैंने छायावाद-मंडली के ही एक सदस्य की हैसियत से अपने युग की नपुन्सक भाव-धारा के प्रति विद्रोह प्रकट किया है और उसकी प्रतिक्रिया के विकृत स्वरूप के प्रति साहित्यिक जनता का ध्यान आकर्षित करना चाहा है। छायावादी युग के महत्व को मैं भुलाना नहीं चाहता ; क्योंकि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रीति-युग की कूपगत बद्धता की सड़ायन से छायावाद-कालीन भावुकता ने अपने मुक्त प्रवाह द्वारा हिन्दी-कविता को एक नई स्फूर्ति प्रदान की। छायावाद के महत्व और विशेषता के सम्बन्ध में मैं 'विजन-वती' की भूमिका में विशद रूप से लिख चुका हूँ। यह सत्य का एक पहलू था। वर्तमान लेख में मैंने सत्य के दूसरे, किन्तु अधिक महत्व पूर्ण, पहलू पर अपने विचार प्रकट किए हैं।

इस सिलसिले में यह सूचित कर देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि छायावादी युग के एक प्रधान कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति को मैं अपवाद-स्वरूप मानता हूँ। वह कृति है प्रसाद जी की 'कामायनी'। यदि 'कामायनी' छायावादी कविता की 'कटेगरी' में आ सकती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि छायावाद ने कम से कम एक ऐसी चीज हमें दी है, जो संसार की किसी भी भाषा के साहित्य के लिए गौरव-स्वरूप समझी जा सकती है। इस काव्य में न अन्य छायावादी कृतियों की नपुन्सकता पाई जाती है, न कोरा शून्यवाद। न इसमें हमारे आत्मप्रेमी 'नार्सिसिस्टिक' छायावादी कवियों की पिछली अथवा वैराग्यजन्य वेदना की बाढ़ पाई जाती है न कविता-कला के साथ खिलवाड़ करने की प्रवृत्ति। इसके शक्तिशाली कवि ने शाश्वत जीवन की गहराई में उतरकर समग्र, विपुल तथा विराट् का पर्दा हमारी

आँखों से हटाने का महान् प्रयत्न किया है, और जीवन के निम्न में प्रवाहित होने वाली मूल चेतना की चिरकल्लोलिनी धारा के वास्तविक रूप में हमें परिचित कराया है। 'कामायनी' के कवि के भावों के सूक्ष्म सौन्दर्य और महत्ता को समझाने के लिए एक पूरा पोथा लिखने की आवश्यकता पड़ेगी; पर उसकी मार्मिकता का थोड़ा-बहुत विश्लेषण करने का प्रयास मैं 'साहित्य-सर्जना' में संकलित अपने एक लेख में कर चुका हूँ। प्रसाद जी ने इस अमर काव्य में अपनी अन्तर्मुखी विराट् कल्पना की बागडोर को एक अभ्यस्त तथा सशक्त सारथी की तरह अपने हाथों में लेकर उसे केन्द्रगत जीवन की अन्तश्चेतना की ओर इस अद्भुत निपुणता के साथ नियोजित किया है कि चकित रह जाना पड़ता है। विद्या तथा अविद्या, बुद्धि तथा श्रद्धा, 'इड़ा' तथा 'कर्कोट', छाया तथा जीवन का ऐसा सुन्दर, सुमंगल सामंजस्य हम इस काव्य में पाते हैं, जो वास्तव में अनुपम है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि यद्यपि इस काव्य में मूल-प्रकृति के मर्म में निहित द्वन्द्वों के विकट संघर्षण का रोमांचकर लीला-लास्य निदर्शित किया गया है, तथापि उसका रूपक इस बिंश-शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय, संघर्षमयी विषमता और वर्तमान संसार के प्रभुत्ववादी, विनाशकारी हिटलर-युग में फैली हुई विद्रोहात्मक अशान्ति के भीषण चक्रजाल का यथार्थ स्वरूप हमारे सामने रखता है, और साथ ही इस प्रलयकारिणी विषमता से परे उठकर समरसता के ध्रुव प्रकाश का अमर-पथ प्रदर्शित करता है। यह है वास्तविक प्रगतिशील कविता; जीर्ण मानसिक विलासिता की प्रतिक्रिया-जनित विकृति की तथाकथित 'यथार्थवादी' उच्छृंखलता को 'प्रगतिवाद' कहना वास्तविक प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाना है। वर्तमान प्रगतिशीलता पर एक पूरा लेख लिखने का मेरा विचार है, इसलिये इस सम्बन्ध में इस समय अधिक कुछ नहीं कहना चाहता।

यहाँ मैं एक बात और कह देना चाहता हूँ। हमारे साहित्य की वर्तमान प्रगतिशील कविता के प्रधान आचार्य पन्त जी की प्रतिभा को मैं लक्षित भी अस्वीकार नहीं करता। उनकी छायावादी कविताओं में जिस प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ था, प्रगतिवादी युग में भी उसे उसका अभाव नहीं दिखाई देता। पन्त जी, प्रसाद जी और निराला जी की गणना तो हिन्दी-साहित्य में अमर कीर्ति स्थापित कर चुके हैं, इसलिए कोई भी समालोचक उनकी प्रतिभा के महत्व के सम्बन्ध

मैं तनिक भी सन्देह करने की धृष्टता नहीं कर सकता; पर उनके विचारों से मतभेद रखने का मैं अपने को पूरा अधिकारी समझता हूँ। मेरी यह धारणा है कि—वर्तमान युग का विश्वव्यापी 'भग्न-विभग्न' तथा छिन्न-भिन्न जीवन जिस घोर अशान्ति तथा अस्थिरता से ग्रस्त है, उसे कभी 'प्रगतिवादी' प्रतिक्रियात्मक प्रतिभा के विद्रोह से स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि पन्त जी 'कामायनी' का अनुसरण करके एक सुन्दर, स्वास्थ्यकर सामंजस्य पूर्ण नवीन जीवनादर्श की ओर अपनी प्रतिभा को प्रेरित कर पायें, तो वह वास्तव में साहित्य तथा समाज का उपकार करेंगे अन्यथा उनकी कविता कदापि वास्तविक कला के चिर-विकासोन्मुखी प्राणों की मूल प्रगति में सहायक सिद्ध नहीं हो सकेगी। निराला जी ने शब्द के कलिदलों को खोल कर कविता में नव-नव छन्द-ताल-लय के संयोग से संगीत की जिस बहु-मुखी विचित्रता का प्रस्फुटन किया है, वह हमारे साहित्य में एक अपूर्व सृष्टि रही है, इसमें सन्देह नहीं। पर उनके इस चमत्कार से हमें वास्तविक जीवन की मूल धारा की प्रगति का अनुसरण करने में कोई सहायता नहीं मिली है, इसलिए उनका सारा आयोजन अन्यान्य छायावादी कवियों की तरह ही व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। अर्थात् कविता जीवन का दर्शन है। इस महावाक्य के महत्व की उपेक्षा कभी नहीं की जानी चाहिए। जब तक इस सरल कथन के गहन मर्म से हमारे कविगण परिचित नहीं होंगे, तब तक वे कला के मूल प्राणों को स्पर्श करने में समर्थ नहीं होंगे।

लेता, तब तक उसे सब विषयों में अपने माता-पिता की अधीनता बाध्य होकर स्वीकार करनी पड़ती है। पराधीनता की अवधि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति अपनी असमर्थता की अनुभूति से अधिकाधिक पीड़ित होता है, और अपनी हीनता का तीव्र अनुभव करके भय और आशंकाओं के भार से दबता चला जाता है। जो व्यक्ति जितना अधिक मेधावी होता है, वह अपनी हीनता के बोध से उतना ही अधिक विकल रहता है; वह जीवन-संघर्ष में घबरा उठता है और उसका मन नाना काल्पनिक दुश्चिन्ताओं के जाल में जकड़ जाता है।

यह मनुष्य की आत्मग्लानि की अनुभूति का (जिसे आडलर ने हीनता की भावना कहा है) केवल एक पहलू है। उसका एक दूसरा पहलू भी है, जो अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य की जन्मजात अथवा वातावरणोत्पन्न असमर्थता जहाँ एक ओर उसे भय और दुश्चिन्ताओं का शिकार बना कर उसे निकम्मा बना देती है, दूसरी ओर अतिपूर्ति के विश्वव्यापी सिद्धान्त के अनुसार उसे इसी प्रकार सशक्त और प्रतिभाशाली बनाने में भी सहायक सिद्ध हो सकती है। मनुष्य अज्ञात रूप से अपनी हीनता और असमर्थता से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता रहता है, और किसी-न-किसी रूप मे अपनी स्वाभाविक कमी की पूर्ति अवश्य करता है। अपनी जन्मजात अक्षमता को दूर करने के उद्देश्य से उसकी अन्तश्चेतना में शक्ति प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा जागरित हो उठती है, और वह जीवन भर नाना उपायों से शक्ति-संचय करने की चेष्टा करता हुआ, दूसरों पर विजय प्राप्त करने और अपनी धाक जमाने लिए अत्यन्त उत्कंठित हो उठता है। उसकी महत्वाकांक्षा अत्यन्त प्रबलता के साथ आगे को बढ़ना चाहती है। पर वास्तविक जगत के स्थिर-निश्चित नियमों के साथ जब उसकी उस महत्वाकांक्षा का संघर्ष होता है, तो उसे भयंकर निराशा का सामना करना पड़ता है। फिर भी वह किसी-न-किसी रूप में अपने आस-पास के व्यक्तियों से आगे बढ़े रहने के लिए छटपटाता रहता है, यद्यपि उसकी यह विजयाकांक्षा बाद में नाना परोक्ष उपायों का अवलम्बन करता है। किस व्यक्ति की महत्व-कामना कौन रूप धारण करेगी, यह उसके शैशव-जीवन की विशेष परिस्थितियों के कारण उसके मन पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं पर निभर करता है।

कवियों के शैशव कालीन जीवन के अध्ययन से यह पता चलता है कि वे किसी न किसी कारण आत्मग्लानि की भावना से विशेष रूप

असमता की पूर्ति वे केवल कल्पना-लोक में विशेषता प्राप्त करके ही नहीं करते रहे हैं, बल्कि अपनी छायामयी कल्पना को क्षुधा-तृष्णा-पीड़ित मर्त्य लोक से दूर, और दूर, और अधिक दूर ले जाने की होड़ आपस में लगाते रहे हैं। हवाई उड़ान में 'रेकर्ड' तोड़ने की यह प्रवृत्ति कैसी हास्यास्पद है, इसका अनुमान सहज में लगाया जा सकता है।

इस प्रकार की अतिरिक्त क्षतिपूर्ति से न व्यक्ति को लाभ होता है, न समाज को। अनुभवी सज्जनों से यह बात छिपी न होगी कि पहलवानों के अतिरिक्त शारीरिक विकास से उन्हें दूसरों पर रोब गाँठने के लिए एक झूठी, दिखावटी शक्ति भले ही प्राप्त हो जाय, पर वास्तविक शक्ति उनसे कोसों दूर भागती है। यही कारण है कि पहलवानों की कायरता प्रसिद्ध है। हमारे एक मित्र ने एक पहलवान की 'शक्तिमत्ता' के सम्बन्ध में अपने निजी अनुभव से हमें परिचित कराया है। एक बार यह पहलवान महाशय अपनी बग्घी पर सवार होकर कहीं सैर करने के लिए जा रहे थे। रास्ते में एक स्थान पर उन्होंने देखा कि कुछ गुण्डे एक महिला पर अत्याचार करने पर उतारू हैं। महिला के साथ के एक व्यक्ति ने पहलवान को रोका और उनसे सहायता की प्रार्थना की। पर गुण्डों के हाथों में छुरे देखकर पहलवान महाशय बग्घी को इस तेज रफ्तार से भगा ले गए कि राहगीर देखते ही रह गए। बाद में जब हमारे मित्र ने 'प्राइवेट' तौर पर उनसे पूछा कि आप महिला की सहायता करना छोड़ कर क्यों भाग निकले, तब उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे कल ही कुश्ती लड़नी है। अब बताइए, गुण्डों के छुरों से घायल होकर अपने शरीर का रक्त घटाने के लिए मैं क्यों इस फेर में पड़ूँ? मैं पहलवान हूँ, कुश्ती लड़ सकता हूँ, पर छुरेबाजों के साथ लड़कर अपने शरीर का वजन नहीं घटा सकता।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि पहलवानों की क्षतिपूर्ति घोर स्वार्थ-भाव से प्रेरित होती है। क्षतिपूर्ति का यह नियम सब क्षेत्रों में समान रूप से कारगर होता है। हमारे छायावादी कवि हवाई लोक में ऊँची उड़ान भरकर हम मिट्टी के पुतलों पर अपनी 'स्वर्गीयता' की जो धाक जमाते रहे हैं, वह भी पहलवानों के शारीरिक विकास की तरह ही पोपली है। उससे केवल उनके अहंभाव के चरम विकास का पता चलता है, इसके अतिरिक्त समाज या संसार को कोई लाभ उससे नहीं हो सकता। उनके इस अहंभाव की विराट् दाम्भिकता पहल...

विश्व-कल्याणकारी स्वस्थ सौन्दर्य से परिचित करावें, बल्कि इसलिए कि वे सौन्दर्य की सहज ओट में अपने विकृत मनोभावों को व्यक्त करके अपने भीतर के दाम्भिकता-जनित, स्वार्थ-क्लेश-युक्त फोड़ों को फोड़ सकें।

रोमान्टिक कवि स्वभावतः कैसे आत्मगत और विकृत-स्वार्थपूर्ण प्राणी होते हैं, इस बात के अनेक उदाहरण उनके जीवन इतिहास से मिल सकते हैं। शेली ने अपने स्वार्थ के लिये अपनी प्रथम स्त्री को त्यागकर उसे आत्महत्या के लिये विवश किया। बायरन ने अपने जीवन में न जाने कितनी महिलाओं का जीवन बरबाद कर दिया, इसका ठिकाना नहीं। कीट्स की घोर आत्मगत मनोभावना का परिचय मनोवैज्ञानिकों को दूसरे रूप में मिलता है। मनोविज्ञान का यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति जितना अधिक आत्मगत होता है (अर्थात्—सब समय केवल अपने ही सम्बन्ध में सोचता रहता है), वह उतना ही भावुक और अनुभूतिप्रवण होता है। वह अपने सम्बन्ध में किसी भी आक्षेप और अपनी कृति के सम्बन्ध में किसी भी आलोचना को सहन करने की समर्थता तनिक भी नहीं रखता। कीट्स के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि किसी आलोचक ने जब उसकी किसी विशेष कृति की कड़ी आलोचना की, तो इस बात से उसे ऐसा जबर्दस्त धक्का पहुँचा कि वह बीमार पड़ गया, और उसी रोग के कारण उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि यह तथ्य अब कीट्स के जीवनी-लेखकों द्वारा खण्डित हो चुका है, तथापि यह बात खंडित नहीं हुई है कि वह अपने सम्बन्ध की आलोचना के विषय में, चाहे वह किसी साधारण लेखक द्वारा क्यों न की गई हो, बहुत अधिक भावप्रवण था।

बहुधा भावुकता को लोग एक बहुत बड़ा गुण समझते हैं। भावुः व्यक्ति जब किसी बात से चोट पहुँचने पर अपने सम्बन्ध में या स्वीकार करते हैं कि उनकी भावुकता बड़ी प्रबल है, तब वे साथ हं यह आशा करते हैं कि उनके स्वभाव की इस विशेषता से उनके प्रि लोगों की श्रद्धा घटने के बजाय और बढ़ जायगी। भावुकता के मनं वैज्ञानिक विश्लेषण से परिचित न होने के कारण जनता वास्तव इस विशेष मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्तियों को ऊँची निगाह

देखने लगता है। पर वास्तव में इस मनोविकार से ग्रस्त व्यक्ति प्रशंसा के योग्य नहीं, बल्कि दया के योग्य है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक आत्मगत, अधिक अहंभावपूर्ण होता है, जो जगत् को मिथ्या समझकर केवल अपने को ही विश्व का केन्द्र समझता है, वही भावुक होता है। अहंभाव की वृद्धि के साथ-ही-साथ व्यक्ति की भावुकता भी बढ़ती चली जाती है। इसलिए हमारे भावी कवि-हृदय नवयुवक-समाज को यह जताने की आवश्यकता है कि वे अपने स्वभाव से कोरी भावुकता को जितना दूर कर सकें उतना ही अच्छा है। उन्हें यह समझाना होगा कि कोरी भावुकता व्यक्ति की महत्ता का द्योतक गुण नहीं, बल्कि एक भयंकर मानसिक रोग है जो तभी दूर हो सकता है जब हम अपने सम्बन्ध में कम सोचने की आदत डालें और समाज तथा संसार के सम्बन्ध में अधिक। भावुक (अर्थात् आत्मगत) व्यक्ति थोथा अभिमान, जो बात-बात में अपने को अपमानित समझ कर उबल पड़ता है, सामाजिक संगठन के लिए उतना ही हानिकर है, जितना स्वयं व्यक्ति के लिये। हमारे छायावादी कवियों में भावुकता-जनित यह मानसिक विकार अतिरिक्त मात्रा में विकसित हो उठा है, जो उनके व्यक्तिगत जीवन की प्रत्येक घटना से और उनकी कविताओं के प्रति पद से फूटता रहता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह विशेषता केवल हमारे छायावादी कवियों में ही नहीं, संसार के प्रायः सभी अपरिपक्व रोमांटिक कवियों में पाई गई है; पर वर्तमान हिन्दी-जगत् में यह बीमारी चरम सीमा को पहुँच चुकी है। हमारा प्रत्येक कवि अपने को एक स्वर्गीय देन समझता है, और उसका सारा काव्य-रोदन केवल इसी कारण उमड़ता रहता है [illegible] विशुद्ध सौन्दर्य, अमर आलोक और चिरन्तन आनन्द से [illegible] कर इस क्षुधा-तृष्णा-पीड़िता, धूल-धूसरिता पृथ्वी के [illegible] दिया। हमारे समाज का एक तुच्छ-से-तुच्छ कवि [illegible] रखता है कि सारा संसार सब समय उसके चरणों [illegible] अपने को धन्य समझता रहे और उसकी पर[illegible] इच्छाओं की पूर्ति करने के सिवा उसका और कोई [illegible] पर चूँकि संसार ऐसा नहीं कर पाता, उसके लिये कवि [illegible] रज धोने के अतिरिक्त और भी बहुत-से महत्वपूर्ण काम [illegible] इस कारण अपने को सृष्टिकर्ता के विशेष अधिकारों के [illegible] समझनेवाले हमारे कविगण यह शिकायत करने लगते [illegible]

उनकी कद्र करना नहीं जानता। फल यह होता है कि वे संसार और समाज को अपना घोर शत्रु समझने लगते हैं। एक तो वे यों ही संसार से विमुख रहते हैं, तिस पर अपनी इस उपेक्षा से वे और भी अधिक समाज-विद्रोही बन जाते हैं, और अपने अन्तर के स्वप्न लोक की एकान्त छाया में अधिकाधिक विलीन होते चले जाते हैं।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि छायावादियों का सारा जीवन-चक्र यान उनकी एकान्त स्वार्थमयी भावना के पेट्रोल से चलता आया है। अहंभाव-जनित विजयाकांक्षा से उनकी 'स्वर्गीय' कविता की उत्पत्ति हुई है, घोर स्वार्थजनित दम्भ से उसका पोषण हुआ है और आत्मतृप्ति की महत्वकांक्षा की ओर वह दुर्निवार वेग से आगे बढ़ती चली गई है। स्वभावतः अहम्मन्यता की पारस्परिक प्रतियोगिता के अस्वास्थ्यकर वातावरण से उन्होंने हमारे समाज और साहित्य को छा दिया है। अब समाज का यह परम कर्तव्य है कि छायावादियों की स्वार्थ-प्रणोदित भावुकता की यथार्थता से परिचित होकर उसके विषमय प्रभाव से हमारे भावी वंशधरों की रक्षा का प्रयत्न करे और उन्हें क्षयरोग की इस मीठी और सरस सुकुमारता के मोह से बचा कर जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ स्वास्थ्यपूर्ण सामंजस्य स्थापित करने के लिये प्रेरित करे।

छायावादी कवि अपनी आन्तरिक दुर्बलता की क्षतिपूर्ति अपने स्वयंसृष्ट काल्पनिक लोक में एक छायामयी शक्ति प्राप्त करते रहे हैं, इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस छाया शक्ति से वे बराबर जनता पर अपनी धौंस जमाते आये हैं। नीत्शे ने जिस प्रवृत्ति को Will to Power (शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा) कहा है, वह अपनी हीनता और अशक्तता के बोध से पीड़ित व्यक्तियों में स्वभावतः विभिन्न रूपों में वर्तमान पाई जाती है। [illegible] -सुन्दरम् के आदर्श को हमारे कवियों ने अपनी [illegible] तोड़ मरोड़ कर एक विकृत रूप प्रदान किया है, और [illegible] अपनी स्वार्थोन्नति की चरम साधना करके उन्होंने [illegible] विजय प्राप्त की है, और अहङ्कार-प्रसूत शक्ति-प्रा[illegible] प्रवृत्ति को चरितार्थ किया है। पर इस अहंभावापन्न [illegible] स्वर के भीतर पुरुषार्थहीनता का [illegible] रहता है।

परिचित कराने का कर्त्तव्य समाज के मनोविज्ञानियों के सामने वर्तमान है।

'विशाल भारत' में प्रकाशित अपने एक पिछले लेख में मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि इधर कुछ समय से हमारे साहित्य-संसार में प्रगतिवाद का जो आन्दोलन चल पड़ा है, वह छायावादियों की शून्य-साधना और मृत्तिका संग-स्पर्श-विरोधी हवाई उड़ान की ही प्रतिक्रिया है। मैं मानता हूँ कि प्रगतिवाद का आन्दोलन जिन उद्देश्यों को सामने रखकर आगे बढ़ा है वे वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और साहित्य के वर्तमान अस्वास्थ्यकर वातावरण के लिये उनकी परम आवश्यकता है। मेरा विरोध प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों से नहीं है, केवल यह बात जनता के ध्यान में लाना चाहता हूँ कि हमारे कवियों में अकस्मात् यह जो 'मानव-प्रेम' की भावना उमड़ पड़ी है, आकुल अन्तर का रोना-रोते वे जो विकल विश्व के प्रति आवश्यकता से अधिक समवेदना प्रकट करने के लिये अधीर हो उठे हैं, उसे विशेष सन्देह की दृष्टि से देखना होगा। शेक्सपीयर के 'हैमलेट' की एक पात्री की तरह इस सम्बन्ध में हम यही कहना चाहेंगे कि 'The Lady doth protest too much, methinks.' अर्थात् - जो महिला स्टेज पर अपने पति के प्रति प्रेम का अत्यधिक प्रदर्शन कर रही है, वह यह सन्देह उत्पन्न करती है कि उसका प्रेम एकदम झूठा है। यह बात विरोधाभासात्मक मालूम होने पर भी सत्य है कि भूतपूर्व छायावादियों ने प्रगतिवाद को अपनाकर अपने स्वार्थ प्रणोदित Will-to-Power की चरितार्थता के उद्देश्य से ही एक नया अस्त्र पकड़ा है। छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उन्होंने जनता पर धौंस जमाने का यह दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव प्रेम के नाम पर उन्होंने अपनी इतने दिनों से दबी हुई सहज (पशु) प्रवृत्तियों को नग्न रूप देने की उन्मुक्त सुविधा पाई है। स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व-मूलक सम्बन्ध में सुधार का बहाना पकड़कर के निर्द्वन्द्व हो उठे हैं।

प्रगतिवादी कवियों की रचनाओं को मनोनिवेश पूर्वक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की चरितार्थता में बाधा पहुँचने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फलस्वरूप, व्यक्त हुई है। चूँकि समाज ने अपने कड़े नैतिक नियमों के कारण उन्हें प्रेम की शारीरिक चरितार्थता से वंचित

रखा है, इसलिए वे मानव के प्रेमादर्शको तिरस्कृत करके पशुओं के प्रेमादर्श की महत्ता की दुहाई देने लगे हैं; चूँकि समाज ने उनकी आलस्य-प्रियता और नैष्कर्म्य का सम्मान नहीं किया है, उन्हें बैठे-बैठे खिलाने और उनकी पार्थिव विलासिता की आवश्यकता को आर्थिक सहायता द्वारा पूरा करने की सुविधा प्रदान नहीं की है, इसलिये वे मानवता और साम्यवाद सम्बन्धी शब्द-जालों की आड़ में समाज को गालियाँ देकर अपने व्यक्तिगत आक्रोश का बदला लेना चाहते हैं; चूँकि समाज ने (शैली की प्रसिद्ध शिकायत के अनुसार) उन्हें अपना नियम-विधायक नहीं माना है, इसलिये वे नियम-मात्र को ध्वंस करने पर उतारू हुए हैं। 'मानवता' और 'विश्व की विकलता' केवल ओट हैं, जिनके पीछे सुरक्षित अवस्था में छिपकर हमारे भूतपूर्व अहंवादी, आत्मगत छायावादी कविगण उसी तरह अपने जले दिलों के फफोले फोड़ रहे हैं, जिस प्रकार छायावादी युग में फोड़ते रहे हैं। अन्तर जो-कुछ है, वह केवल बाह्य रूपों में। छायावाद और प्रगतिवाद एक ही मूल भाव की दो विभिन्न शाखाएँ हैं—ठीक जिस प्रकार प्रतिभा और पागलपन अन्तश्चेतना के एक ही मूल उद्देश्य से प्रसूत क्षतिपूर्ति के दो अलग-अलग रूप हैं। मनोवैज्ञानिकों ने निश्चित रूप से यह बात सिद्ध कर दी है कि प्रतिभा और पागलपन में मूलगत साम्य है। लूथर बरबैंक एक पेड़ की दो विभिन्न शाखाओं में अलग-अलग तरह से कलम करके दो प्रकार के भिन्न फलों को उपजा देता था, जो देखने में मूलतः भिन्न जान पड़ते थे, पर वास्तव में [illegible] अपनी आन्तरिक [illegible] [illegible] का अन्तःसत्व एक ही होता था। यही बात छायावाद और प्रगतिवाद के विषय में भी लागू होती है।

एक विख्यात मनोवैज्ञानिक का कहना है—"मनोवेग की धारा मूल-अन्तश्चेतना की अतल जलराशि से उत्थित होकर अग्रचेतना में [illegible] होनेवाली मानसिक जटिलताओं के रूप में आने को व्यक्त करती है, और अपने प्रवाह-मार्ग को निरन्तर बदलती चली जाती है; व्यक्ति के अनुभवों का अनुसरण करते हुये उसके मनस्तन्त्र जिन-जिन ग्रन्थियों में अपने को गठित और पुनर्गठित करते जाते हैं, उन्हीं के अनुसार व्यक्ति की मनोधारा भी कभी एक प्रवाह-मार्ग को पकड़ती है और कभी दूसरे को।"

प्रवाह-मार्ग भले ही बदले, पर मनोधारा मूलतः एक ही रहती है। हमारे भूतपूर्व छायावादियों ने इस समय प्रगतिवाद के प्रवाह-मार्ग का

अवलम्ब भले ही पकड़ा हो, पर उनकी मनोधारा नहीं बदली है: छायावाद के युग में उनकी मनोधारा का जो मूल उद्देश्य रहा है (अर्थात् छायामयी शक्ति प्राप्त करके समाज पर अपनी धौंस जमा कर अपनी आन्तरिक दुर्बलता और असमर्थता की क्षतिपूर्ति की जो मनोवृत्ति वर्तमान रही है) प्रगतिवाद के युग में भी उनकी समाज-विरोधी भावना उनकी अहम्मन्यता-प्रसूत विजयाकांक्षा को चरितार्थ करने के लिए उत्सुक हो उठी है।

हमारे प्राचीन नीतिकार एक परम मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रतिपादित कर गये हैं—'क्षीणाः जनाः निष्करुणाः भवन्ति'। जो व्यक्ति अपनी स्वाभाविक क्षीणता के भाव से त्रस्त रहते हैं, वे सबसे अधिक निष्करुण होते हैं। अपनी क्षीणता की अनुभूति से उनमें दूसरों पर धौंस जमाने की प्रवृत्ति प्रबल वेग से जाग पड़ती है। दूसरों पर धौंस जमाने का तात्पर्य स्पष्ट ही यह है कि आप इतने बड़े स्वार्थी हैं कि अपने बड़प्पन को सब से अधिक महत्व देते हैं; और आप के बड़प्पन की चरितार्थता तभी हो सकती है, जब आप दूसरों को अत्यन्त तुच्छ समझकर उन्हें ठेलकर, कुचल कर आगे बढ़ें। पहले ही कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति क्षीणता की अनुभूति से जितना अधिक त्रस्त रहता है, दूसरों पर विजय पाने की इच्छा उसके मन में उतनी ही अधिक प्रबल हो उठती है। इसलिए समाज को चाहिए कि वह क्षीणजनों की उपेक्षा कभी न करे। कारण यह है कि क्षीण जनों के मन में सब से आगे बढ़ने और समाज से अपना बदला चुकाने की प्रवृत्ति ऐसे भयंकर रूप में वर्तमान रहती है कि परवर्ती जीवन में समाज को मूलतः नष्ट भ्रष्ट करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। इसी कारण संसार में आज तक जितने भी विकट क्रान्तिकारी उत्पन्न हुए हैं, वे अपने प्रारम्भिक जीवन में अपनी क्षीणता की भावना से बहुत बेचैन रहे हैं। उनकी क्षीणता ने (चाहे वह शारीरिक रही हो, चाहे वातावरणोत्पन्न) उन्हें इतना अधिक अनुभूतिप्रवण, भावुक और अहंभावापन्न बना दिया कि उनके अनजान में उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य किसी न किसी रूप में आत्मिक शक्ति प्राप्त करके उस समाज को ध्वंस करने का बन गया, जिसने उनके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के मूल उन्नायक रूसो का प्रारम्भिक जीवन कितना अधिक क्षीणता-त्रस्त रहा है, इसका परिचय उसकी स्वीकारो-

स्त्रियों से भली-भाँति मिल जाता है। बड़े घरानों के स्त्री-पुरुषों के बीच में सम्मान प्राप्त करने की इच्छा उसके मन में प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रबल रही, पर अपने स्वभाव की विचित्रता के कारण वह पग-पग में ठुकराया गया और अपमानित हुआ। इसका फल यह हुआ कि सम्भ्रान्त-वंशीय समाज का मूलोच्छेदन उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया। 'अपनी 'ले कॉन्त्रा सोशाल' (सामाजिक समझौता) नामक पुस्तक से उसने अपने युग के सम्भ्रान्त समाज के विरुद्ध आग भड़का दी, जिसका कैसा भीषण परिणाम हुआ, इससे इतिहास-प्रेमी पाठक भली भाँति परिचित हैं। कार्ल मार्क्स यहूदी होने के कारण लड़कपन से ही अपने ईसाई साथियों के बीच में रहकर उनके विद्रूप-बाण, नितान्त उपेक्षा और निरादर सहन करता रहा। इस प्रकार अपनी क्षीणता की अनुभूति से दबे रहने के कारण वह अपने परवर्ती जीवन में एक विकट विध्वंसात्मक क्रान्ति का अग्रदूत बन गया। विश्व-विख्यात रूसी अराजकतावादी बाकुनिन भी अपने प्रारम्भिक जीवन में क्षीणता-ग्रस्त रहा, फल यह हुआ कि परवर्ती जीवन में वह घोर विध्वंसवादी बन गया। उसने बाद में यह बात स्वीकार की थी कि वह मानव-जाति के सामूहिक कल्याण का लक्ष्य सामने रखकर क्रान्तिकारी नहीं बना, बल्कि इसलिये बना कि क्रान्ति में उसे एक प्रकार का 'रोमान्टिक' रस प्राप्त होता था। इससे स्पष्ट है कि अपनी अहम्मन्यता की चरम साधना ही उसका मुख्य लक्ष्य था। हमारे प्रगतिवादी कवि भी अपने समाज-विद्रोही उद्‌गारों द्वारा एक विशेष प्रकार के 'रोमान्टिक' रस का स्वाद पा रहे हैं, जो छायावादी रस का अच्छा Substitute है।

क्षीण प्राणी सबसे भयंकर क्रान्तिकारी तथा विध्वंसवादी होते हैं, इसका सब से जबर्दस्त प्रमाण यह है कि क्षयरोग के अदृश्य कीटाणु मानव-शरीर के लिए सब से अधिक घातक सिद्ध होते हैं। रोग फैलानेवाले कीटाणुओं का हीनता का भाव क्षतिपूर्ति के प्राकृतिक नियम का पालन करता हुआ ऐसी विनाशकारी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि मनुष्य के समान शक्तिशाली प्राणी की हत्या कर डालता है। इसी भावना से प्रेरित होकर हमारे महत्त्वाकांक्षी प्रगतिवादी कवियों ने समाज के प्रतिष्ठित नियमों को एकदम तहस-नहस [illegible] उठाया है।

हमारे कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सामाजिक नियमों में जोरदार परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है; हम केवल प्रगतिवादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये यह दिखाना चाहते हैं कि उन लोगों के सिरों पर आजकल 'पीड़ित मानवता' और 'विकल विश्व' के प्रति समवेदना का जो भूत सवार हुआ है वह वास्तविक मानव प्रेम की आकुलता से प्रेरित होकर नहीं बल्कि इसकी ठीक उल्टी मनोवृत्ति से प्रणोदित होकर हमारे साहित्य में आ धमका है। हमारी यह उक्ति इस समय बहुत-से सज्जनों को निश्चय ही आत्म-खण्डित और विरोधाभासात्मक जान पड़ेगी; पर समय अपने आप इस सत्य को सब के आगे स्पष्ट कर देगा कि आजकल हम लोग नये मतवाद के प्रचारकों की कविताओं में शोषित मानवता के प्रति जो सहानुभूति-मूलक साम्यवादी उक्तियाँ पढ़ते हैं, वे घोर असाम्यवादी, आत्मकामी, अहङ्कारी और मानव-विद्वेषी कवियों के नये अस्त्र हैं, जिन्हें वे देश-काल-पात्र के अनुसार अपनी विजयाकांक्षा की चरितार्थता के लिये प्रयुक्त करते हैं।

वर्तमान युग में जनता की मनोधारा में शीघ्र गति से परिवर्तन होते चले जा रहे हैं। इस बात पर गौर करके हमारे प्रगतिवादी कवि अपने नये अस्त्रों के स्वरूपों को भी नित्य-प्रति बदलते हुए प्रयोग पर प्रयोग करते चले जाते हैं कि कौन अस्त्र किस साहित्यिक गुट पर किस रूप में प्रयुक्त होने से अपना असर दिखायेगा। इसलिये प्रगतिवादियों की प्रत्येक कविता में आपको एक नया शिगूफा छोड़ा हुआ मिलेगा। कारण वही है, जो हम ऊपर बतला चुके हैं। उनकी कोई भी मानवता सम्बन्धी कविता वास्तविक मानव-हिताकांक्षा द्वारा प्रेरित होकर नहीं, बल्कि जनता पर सब से अधिक प्रभाव डालने की पारस्परिक प्रति-योगिता की भावना से लिखी गई है। प्रत्येक प्रगतिवादी कवि इस नये ढंग के 'हिप्नोटिज्म' की कला में दूसरे कवियों से आगे बढ़े रहने के लिए सब समय अस्थिर रहता है।

इधर एक और नई मनोवृत्ति हमारे प्रगतिपंथी कवियों में पाई जाने लगी है—वह है Prophetic role का अभिनय करने—अर्थात् क्रान्तिदर्शी बनने—की मनोवृत्ति। शंकराचार्य ने कवि को क्रान्तिदर्शी बताया है, सन्देह नहीं, पर वास्तविक क्रान्तिदर्शिता एक बात है और उसका अभिनय करना बिल्कुल दूसरी बात। इस प्रकार के अभिनय की प्रवृत्ति व्यक्ति के अहंभाव की उत्तरोतर वृद्धि का ही फल है। क्षीणता-ग्रस्त व्यक्तियों का अहङ्कार बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ जाता है

किसी से भली-भाँति मिल जाता है। बड़े घरानों के स्त्री-पुरुषों के बीच में सम्मान प्राप्त करने की इच्छा उसके मन में प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रबल रही, पर अपने स्वभाव की विचित्रता के कारण वह पग-पग में ठुकराया गया और अपमानित हुआ। इसका फल यह हुआ कि सम्भ्रान्त-वंशीय समाज का मूलोच्छेदन उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया। 'अपनी 'ले कोंत्रा सोशाल' (सामाजिक समझौता) नामक पुस्तक से उसने अपने युग के सम्भ्रान्त समाज के विरुद्ध आग भड़का दी, जिसका कैसा भीषण परिणाम हुआ, उससे इतिहास-प्रेमी पाठक भली भाँति परिचित हैं। कार्ल मार्क्स यहूदी होने के कारण छुटपन से ही अपने ईसाई साथियों के बीच में रहकर उनके विद्रूप-बाण, नितान्त उपेक्षा और निरादर सहन करता रहा। इस प्रकार अपनी क्षीणता की अनुभूति से दबे रहने के कारण वह अपने परवर्ती जीवन में एक विकट विध्वंसात्मक क्रान्ति का अग्रदूत बन गया। विश्व-विख्यात रूसी अराजकतावादी बाकुनिन भी अपने प्रारम्भिक जीवन में क्षीणता-ग्रस्त रहा, फल यह हुआ कि परवर्ती जीवन में वह घोर विध्वंसवादी बन गया। उसने बाद में यह बात स्वीकार की थी कि वह मानव-जाति के सामूहिक कल्याण का लक्ष्य सामने रखकर क्रान्तिकारी नहीं बना, बल्कि इसलिये बना कि क्रान्ति में उसे एक प्रकार का 'रोमान्टिक' रस प्राप्त होता था। इससे स्पष्ट है कि अपनी अहम्मन्यता की चरम साधना ही उसका मुख्य लक्ष्य था। हमारे प्रगतिवादी कवि भी अपने समाज-विद्रोही उद्‌गारों द्वारा एक विशेष प्रकार के 'रोमान्टिक' रस का स्वाद पा रहे हैं, जो छायावादी रस का अच्छा Substitute है।

क्षीण प्राणी सबसे भयंकर क्रान्तिकारी तथा विध्वंसवादी होते हैं, इसका सब से जबर्दस्त प्रमाण यह है कि क्षयरोग के अदृश्य कीटाणु मानव-शरीर के लिए सब से अधिक घातक सिद्ध होते हैं। रोग फैलानेवाले कीटाणुओं का हीनता का भाव क्षतिपूर्ति के प्राकृतिक नियम का पालन करता हुआ ऐसी विनाशकारी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि मनुष्य के समान शक्तिशाली प्राणी की हत्या कर डालता है। इसी भावना से प्रेरित होकर हमारे महत्त्वाकांक्षी प्रगतिवादी कवियों ने समाज के प्रतिष्ठित नियमों को एकदम तहस-नहस करने का बीड़ा उठाया है।

हमारे कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सामाजिक नियमों में जोरदार परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है; हम केवल प्रगतिवादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये यह दिखाना चाहते हैं कि इन लोगों के सिरों पर आजकल 'पीड़ित मानवता' और 'निम्न विश्व' के प्रति समवेदना का जो भूत सवार हुआ है, वह वास्तविक मानव प्रेम की आकुलता से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि इसकी ठीक उल्टी मनोवृत्ति से प्रणोदित होकर हमारे साहित्य में आ धमका है। हमारी यह उक्ति इस समय बहुत-से सज्जनों को निश्चय ही आत्म-खण्डित और विरोधाभासात्मक जान पड़ेगी; पर समय अपने आप इस सत्य को सब के आगे स्पष्ट कर देगा कि आजकल हम लोग नये मतवाद के प्रचारकों की कविताओं में शोषित मानवता के प्रति जो सहानुभूति-मूलक साम्यवादी उक्तियाँ पढ़ते हैं, वे घोर असाम्यवादी, आत्मकामी, अहङ्कारी और मानव-विद्वेषी कवियों के मन्त्र हैं, जिन्हें वे देश-काल-पात्र के अनुसार अपनी विजय-लालसा की चरितार्थता के लिये प्रयुक्त करते हैं।

वर्तमान युग में जनता की मनोधारा में शीघ्र गति से परिवर्तन होते चले जा रहे हैं। इस बात पर गौर करके हमारे प्रगतिवादी कवि अपने नये अस्त्रों के प्रकारों को भी नित्य-प्रति बदलने तथा प्रयोग पर प्रयोग करते चले जाते हैं कि कौन अस्त्र किस साहित्यिक रूप पर किस रूप में प्रयुक्त होने से अपना असर दिखायेगा। इसलिये प्रगतिवादियों की प्रत्येक कविता में आपको एक नया शिगूफा छोड़ा हुआ मिलेगा। कारण वही है, जो हम ऊपर बतला चुके हैं। उनकी कोई भी मानवता सम्बन्धी कविता वास्तविक मानव-हिताकांक्षा द्वारा प्रेरित होकर नहीं, बल्कि जनता पर सब से अधिक प्रभाव डालने की पारस्परिक प्रतियोगिता की भावना से लिखी गई है। प्रत्येक प्रगतिवादी कवि इस नये ढंग के 'हिप्नोटिज्म' की कला में दूसरे कवियों से आगे बढ़ जाने के लिए सब समय अस्थिर रहता है।

इधर एक और नई मनोवृत्ति हमारे प्रगतिपंथी कवियों में पाई जाने लगी है—वह है Prophetic role का अभिनय करने—अर्थात् क्रान्तिदर्शी बनने—की मनोवृत्ति। शंकराचार्य ने कवि को क्रान्तिदर्शी बताया है, सन्देह नहीं, पर वास्तविक क्रान्तिदर्शिता एक बात है और उसका अभिनय करना बिल्कुल दूसरी बात। इस प्रकार के अभिनय की प्रवृत्ति व्यक्ति के अहंभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि का ही फल है। हीनता-ग्रस्त व्यक्तियों का अहङ्कार बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ जाता है

कि पहले तो वे साधारण जन-समाज से ऊपर उठकर लोकनेता बनने के प्रयासी होते हैं, और बाद में धीरे-धीरे अपने को या तो ईश्वर का छोटा भाई समझने लगते हैं, या स्वयं ईश्वर की समकक्षता प्राप्त करने को अस्थिर हो उठते हैं। यह मूल भावना यदि प्रकृति के अनुकूल मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करे, तो विश्व-ज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के साथ-ही-साथ वेदान्तिकों के "अहं ब्रह्म" अथवा "चिदानन्द रूपो शिवोऽहं शिवोऽहम्" की भावना के अनुभव का रूप पा जाती है; पर अधिकांशतः यह मनोवृत्ति विकृत उपायों से अपना विकास करती है, जिसका फल यह होता है कि व्यक्ति का अहंकार एक विश्वव्यापी विराट् बैलून की तरह फूल उठता है, और वह केवल इस उद्देश्य से ईश्वर या उसका छोटा भाई बनना चाहता है कि विश्व-समाज पर वह अपनी धाक जमाता रहे।

डेनमार्क के प्रसिद्ध कहानीकार हांज आन्दरसन ने अपनी एक रूपकमयी कहानी में क्षीणता-ग्रस्त व्यक्ति के अहङ्कार-प्रसूत अनन्त असन्तोष का सुन्दर चित्र खींचा है। एक मछुआ एक सोने की मछली को अपने जाल में पकड़ने के बाद मछली की कातर प्रार्थना से पिघल कर उसे प्राण दान दे देता है। इस उपकार के बदले में मछली उसे यह वरदान देती है कि वह प्रतिदिन एक बार जैसी कुछ भी इच्छा प्रकट करेगा, उसकी पूर्ति हो जायगी। मछुआ इस बात की सूचना अपनी पत्नी को देता है। उसकी पत्नी एक धनी घर की महिला बनना चाहती है। मछुआ अपनी पत्नी की इस इच्छा को पूरा करने के उद्देश्य से सोने की मछली से वर माँगता है। इस इच्छा की पूर्ति होने पर मछुए की स्त्री रानी बनना चाहती है। वह इच्छा भी जब पूरी हो जाती है, तो उसका असन्तोष और बढ़ जाता है, और वह ईश्वरीय शक्ति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करती है। इस अस्वाभाविक इच्छा का फल यह होता है कि उसका पार्थिव वैभव भी लोप हो जाता है, और वह पहले की-सी ही दरिद्रावस्था में दिन बिताने को बाध्य होती है।

प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार डास्टाएव्सकी ने 'भूत-ग्रस्त' नामक प्रसिद्ध उपन्यास में अपने समय के कुछ क्रान्तिकारी चरित्रों का सुन्दर चित्रण किया है। उनमें से एक पात्र को ईश्वर बनने की धुन सवार होती है और सब विषयों में उसका मस्तिष्क ठीक काम करता है; पर केवल यह धुन पागलपन का-सा रूप धारण कर लेती है। अन्त में वह

अपनी स्वकल्पित दार्शनिकता से यह निश्चय करता है कि ईश्वर बनने का सबसे सरल उपाय आत्महत्या कर लेना है। अन्त में वह यही करता है।

सुप्रसिद्ध रूसी क्रान्तिकारी बाकुनिन ने अपने जीवन के अन्तिम काल में अपने एक स्नेही जन को लिखा था—"मेरे मानसिक कष्ट का सबसे बड़ा कारण यह है कि मैं एक मनुष्य मात्र रह गया हूँ, जब कि मैं ईश्वर बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता हूँ!"

इस प्रकार की अस्वाभाविक और असामाजिक महत्त्वाकांक्षा निश्चय ही मनुष्य के भीषण अहङ्कार की निर्द्वन्द्व मनोभावना से उत्पन्न होती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति या तो पागल बन जाता है, या आत्म-हत्या के लिए प्रवृत्त होता है। हमारे क्रान्तिदर्शी प्रगतिपंथी कवियों में यद्यपि इस भावना ने अभी पूरा ज़ोर नहीं पकड़ा, तथापि वे बड़े वेग से उस ओर बढ़ रहे हैं, इस बात के निश्चित लक्षण उनकी कविताओं में दिखाई देने लगे हैं।

बाकुनिन ने ज़ार के प्रति अपनी स्वीकारोक्ति में लिखा था—"मेरे चरित्र में एक मूलगत दोष वर्तमान था। वह यह कि मैं छायागर्भी माया की मोहनी से मुग्ध और असाधारण, अद्भुतपूर्व, विचित्र जीवन-चक्रों के प्रति आसक्त था। मैं जीवन में ऐसे कार्य-कलापों में सम्मिलित होने की इच्छा रखता था जो मेरे लिए एक ऐसे अनन्त क्षितिज का द्वार मुक्त कर सकें, जिसकी समाप्ति कहाँ पर है, इसका अनुमान कोई भी मनुष्य न लगा सकता हो।"

मानव-प्रेम के नाम पर बाकुनिन ने जो विश्व व्यापी क्रान्ति का बीड़ा उठाया था, उसका मूलगत उद्देश्य केवल अनन्त आत्मप्रेम था, यह बात उसकी इस स्वीकारोक्ति से स्पष्ट हो जाती है। उसके एक घनिष्ट मित्र ने उसके सम्बन्ध में लिखा था—'वह भावों से प्रेम रखता है; मनुष्यों से नहीं।'

बाकुनिन के चरित्र की ये सब विशेषताएं हमारे प्रगतिपंथी कवियों में वर्तमान हैं, इसका प्रमाण उनकी कविताओं में प्रस्फुटित उनके व्यक्तित्व से भली भांति मिलता है। बाकुनिन की इस मूर्ति से परिचय हुए थे—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा।

(कामायनी)

पता नहीं, हमारे प्रगतिपंथी कवि इसका मर्म ग्रहण करके इससे लाभ उठावेंगे या नहीं।

क्या छायावादी और क्या प्रगतिवादी, दोनों प्रकार की कविताओं में हमारे भूतपूर्व छायावादी और वर्तमान प्रगतिवादी कवियों की अहंभाव-जनित दाम्भिकता और समाज-विद्रोह विस्फुटित हुआ है। जब तक इन कवियों की स्वाभाविक क्षीणता-जनित क्षतिपूर्ति का मनोभाव केवल विरोध के लिए समाज-विरोधी होने का पथ त्याग नहीं देता, जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ सामंजस्य पूर्ण नीति को ग्रहण नहीं करता, तब तक वे न अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकते हैं, न समाज का। प्रगतिवादी 'रोमान्टिसिज्म' का इंजेक्शन देने के बदले हमारे नवयुवकों को जीवन के गहन मर्म की यथार्थता से परिचित कराना होगा, अपनी अहंभावापन्न अन्तर्वर्ती मनोवृत्ति का बहिर्वर्ती विश्व के साथ सुन्दर समन्वय स्वास्थ्यपूर्ण उपायों द्वारा करने का उपदेश देना होगा। यदि हमारे कवि अपने 'युग' की स्थापना और अपने-अपने 'स्कूल' को लोक प्रिय बनाने की कल्पना त्याग कर अपने छायावादी युग की वेदना-ग्राहिणी प्रवृत्ति द्वारा दूसरों के दुःखों का सच्चा अनुभव प्राप्त करके अपनी सौन्दर्य-बोधिनी प्रवृत्ति द्वारा जीवन की वास्तविकता का कल्याणकारी सत्य रूप समाज के आगे रखने का प्रयत्न करें, तो उनकी क्षति-पूर्ति वास्तव में समुन्नत-रूपिणी बन जाय। अब इस बात की आवश्यकता आ पड़ी है कि "सभी वर्तमान मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन" के सिद्धान्त को हमारे साहित्य-क्षेत्र में भी प्रचलित कर दिया जाय। अभी समय है।

इस समय हमारा साहित्य-समाज मनोविकारों की जटिलताओं से उत्पन्न [illegible] ग्रन्थियों में ग्रस्त है। इसलिए जब तक कवियों, कलाकारों और साहित्यिक जनता को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनकी [illegible] के छिपे हुए मूल उद्देश्यों से परिचित नहीं कराया जायगा, तब तक [illegible], स्वास्थ्यकर और कल्याणकारी शक्ति से पूर्ण साहित्य का निर्माण असम्भव है। इस लेख में हमने इसी उद्देश्य को सामने रखकर [illegible] किया है। मैं हिन्दी के समस्त विद्वानों को इस [illegible] के [illegible] सहयोग प्रदान करने के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

वर्तमान लेखक में भी अहंभाव की वही मनोवृत्ति बराबर सक्रिय रही है, जो प्रगतिपंथी कवियों या भूतपूर्व छायावादियों में। अन्तर केवल यह है कि इस लेखिका लेखक अपनी इस कमी को स्वीकार करता है; पर हिन्दी-कविता के वर्तमान आचार्यगण उसे अपनी श्रेष्ठता का निदर्शन समझते हैं।

रहा है। पुरातन ज्ञान और नये अनुभव के पारस्परिक संघर्ष से इस नवीन सभ्यता में प्रबल रूप से मन्थन चल रहा है। इस मन्थन फलस्वरूप आज का मानव अत्यन्त अशान्त और अस्थिर है। आधु निक सभ्यता बैबिलोनिया और असीरिया की उत्कट भौतिक सभ्यत को भी दुर्धर्षता में मात दे रही है, संदेह नहीं; पर इस सभ्यत नागिन की मणि में सार्वजनिक कल्याण का सनातन स्वरूप भी बीच बीच में प्रतिबिंबित हो जाता है। इस कारण उसके भीतर द्विविध का भाव उत्पन्न हो गया है। इस द्विविध-भाव के कारण आज मानव समाज में रचना और संहार, त्याग और भोग, पुण्य और पाप क द्वन्द्व-चक्र तीव्रतम रूप से चल रहा है। कालिदास के युग की सभ्यता में भौतिक तथा आध्यात्मिक भावों का साम्य स्थापित होने के कारण एक प्रकार का "राम-राज्य" प्रतिष्ठित हो गया था। इस राम-राज्य में मनुष्य के प्रतिदिन के सुख-दुःख का चक्र शान्तभाव से चला करता था। इस कारण मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता के प्रति कवियों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित नहीं होता था। तब कविगण विशुद्ध सौन्दर्य के छायात्मक रूप पर ही मोहित रहा करते थे और अपने काव्यों में उसी की चर्चा किया करते थे। पर आधुनिक सभ्यता में साम्य का भाव नहीं पाया जाता। भौतिकता ने भूत और माया की तरह समस्त सभ्यता के ऊपर अपना जाल विस्तारित कर रखा है। इस सभ्यता के घनाच्छन्न आकाश में चूंकि आध्यात्मिकता की बिजली भी बीच-बीच में चमका करती है, इसलिए [illegible]

वर्तमान हिन्दी में भी स्वच्छन्दता की वही मनोवृत्ति बराबर लक्षित रही है, जो प्रगतिवादी कवियों के पूर्ववर्ती छायावादियों में। अन्तर केवल यह है कि इन लेखिका वर्ग अपनी उस कला को स्वीकार करता है; पर हिन्दी-कविता के वर्तमान आलोचकगण उसे अपूर्ण चेतना का निदर्शन समझते हैं।

[illegible]

है। इस अनुभूति का परिणाम यह हुआ है कि पहले के कवियों की तरह वर्तमान युग के साहित्यिक मनुष्य के प्रतिदिन की तुच्छ घटनाओं पर उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते। कवि विराट सौन्दर्य के भाव में मग्न होने की चेष्टा करता है, पर राष्ट्र तथा समाज की सामूहिकता के द्वन्द्वात्मक भाव से दलित वैयक्तिक मानव का विद्रोह प्रतिपद में अपनी ओर उसका ध्यान आकर्षित करता है। इसी संघर्ष की उत्तेजना से सन्तुलन-मूलक साहित्य अभिव्यक्त हुआ है। आधुनिक उपन्यास साहित्य में समाज की सामूहिकता के साथ व्यक्ति का यही संघर्ष प्रस्फुटित हुआ है।

रूस में पहले उन्नीसवीं सदी के रूसी लेखकों ने वस्तुतन्त्रवाद को अपने हृदय की तीव्र अनुभूति तथा भाव-प्रवणता में रँगकर उसे काव्य का-सा महत्व प्रदान किया है, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि उसे काव्य से भी अधिक महिमान्वित किया है। टाल्सटाय, तुर्गनेव, दास्ताएवस्की, चेखाफ, गोर्की आदि लेखकों की रचनाओं में वास्तविकता के वैचित्र्य का अभिनव खेल देखने में आता है। सभ्यता की दुर्बलता तथा मानव-हृदय की दुर्बलता मिलकर जिस दुःख की सृष्टि कर रहे हैं उसी का मार्मिक चित्रण पूर्वोक्त रूसी कलाकारों ने किया है। बीसवीं सदी का समस्त यूरोपियन साहित्य इन्हीं विश्व-विख्यात लेखकों की मर्मवाणी और प्राणस्पर्शी शैली से प्रभावित है।

सारा रूसी साहित्य विषाद के प्रगाढ़ रंग से रँगा हुआ है। कारण यह है कि स्वार्थपूर्ण सभ्यता के आडम्बर और

विधि-विधान के बंधन से मुक्त वैयक्तिक मानव अपनी स्वतंत्र सत्ता को प्रतिष्ठित करने के लिये अपने अज्ञान में छटपटाता रहा है, और छटपटाने के फलस्वरूप वह अपनी शक्ति की सीमा का कटु-तिक्त परिचय पाता चला गया है। अपनी इस सीमानुभूति के कारण वह स्वभावतः विषाद के भाव से आक्रान्त हो उठता है। रूसी साहित्यिकों की गहन अनुभूतिशील चेतना इस प्रबल सत्य के प्रति उदासीन नहीं रह सकती थी। सभ्यता अपने रात-दिन के तुच्छ विधि-निषेध के चक्र से मानव की असीमता को खंडित करने की चेष्टा में है और मानव का अन्तःकरण अज्ञात रूप से अपनी समस्त खंडताओं को एक सूत्र में पिरो कर अपने व्यक्तित्व की समग्रता का अनुभव करना चाहता है। इस खंडता से त्राण पाने की आकांक्षा रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कविता में इस प्रकार व्यक्त की है—"तुच्छ जीवों की तरह किसी प्रकार जीवित रहने के प्रयत्न में दिन बिताने की ग्लानि मुझे अत्यन्त लज्जित कर रही है। प्रत्येक रात को शयनकक्ष में टिमटिमाते हुये दीप की क्षुद्र-शिखा के के धुएँ में चिह्नित कालिमा मेरे हृदय को अवसाद-ग्रस्त और कलंकित करती है। लाभ-हानि की स्वार्थपूर्ण खींचातानी से अति सूक्ष्म और अग्र अंश का भी भाग करके रात-दिन के झगड़ों और उलझनों में व्यस्त रह कर जीवन को खंड-खंड रूप से प्रतिपन्न शय होते अब अधिक नहीं देखा जाता। जिस पथ में असंख्य जनता भीषण नीरवता के साथ यात्रा करती चली गई है, उसके एक किनारे पर मुझे रख दो, जिससे मैं युग-युगान्त का विराट् स्वरूप देख सकूँ।"

प्रति-दिन की तुच्छता में बद्ध होने के कारण वर्तमान सभ्यता-ग्रस्त मानव विराट् के इस युगयुगान्तव्यापी स्वरूप को देखने में असमर्थ है। अपनी लाभ-हानि और कलह-संशय को ही ध्रुव सत्य समझने की शिक्षा उसे मिली है। पर बीच-बीच में जब यह तुच्छता अपनी अतिरिक्तता से हृदय को अवसाद-ग्रस्त कर देती है, तब मनुष्य की 'दूसरी आत्मा' जग उठती है और महाकाल के सूत्र में उसके जीवन की डोर को बाँध देती है। 'फौस्ट' द्वारा वर्णित मनुष्य की इन दो परस्पर-विरोधी आत्माओं के संघर्षण से एक ओर विषाद का विष मथित हो उठता है, और दूसरी ओर आनन्द का अमृत भी उमड़ आता है। इसी विष तथा अमृत, पाप और पुण्य का द्वंद्व आधुनिक उपन्यास-साहित्य में बड़ी खूबी के साथ अंकित हुआ दिखाई देता है। सर्वप्रथम उन्नीसवीं सदी के रूसी उपन्यासों में इस द्वन्द्व का विश्लेषण

अनुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित किया गया और [illegible] के बजाय से प्राप्त. [illegible] में [illegible] उपन्यासकारों के दूसरे ढंग की अनुवाद।

टाल्सटाय के अन्ना कैरेनिना नामक उपन्यास का बहुत भारी प्रभाव पश्चिमी यूरोप के आधुनिक तथा पिछली सदी के प्रारंभिक काल के उपन्यासकारों पर विशेष रूप से पड़ा है। इस उपन्यास की नायिका अन्ना सुशील विवाहिता है [illegible] रहती है और [illegible] बन जाती है। अनुभूतिशील व्यक्तियों के इस विषम व्यापारों का बहुत सजीव रूप से चित्रण हुआ है। अन्ना अत्यन्त अनुभूतिशील है, और साथ ही उसकी बुद्धि भी [illegible] करती है। बुद्धि की सीमा से अतिरिक्त उसमें [illegible] भाव कुछ कम मात्रा में वर्तमान नहीं है, अनुभूतिशीलता की मात्रा में उसके हृदय की महान् [illegible] पूर्णतया [illegible] धारण करती है। इस कारण उसका सम्पूर्ण चरित्र अंकित किया जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। यद्यपि इस [illegible] नारी के भीतर एक कोने में इसकी दुर्बलता कैसे छिपी हुई थी? उसका वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं था। पर वे [illegible] हुये भी [illegible] की उदासीनता के समान उसका जीवन भी प्रतिदिन की [illegible] की निर्जीवता [illegible] बना जाता था। उसका [illegible] पति एक राज कर्मचारी था। सरकारी कामों से ही उसे सुख मिलता था। वह दिन-रात उन्हीं कामों में व्यस्त रहा करता था। इस कारण अन्ना अपनी [illegible] की [illegible] में जीवन-हीन-सी [illegible] स्वयं [illegible] होती हुई अपने ही समान अनुभूतिशील तथा [illegible] अपने प्रायः ८ साल के बच्चे को लेकर, उदासीन भाव से जीवन बिताती थी और गृहस्थी के काम-काज निभाती थी। उसके शान्त संयत तथा सुशील चरित्र को देखकर कोई भी यह विश्वास नहीं कर सकता था कि वह अपनी गृहस्थी त्याग-कर किसी परपुरुष के साथ जीवन-सम्बन्ध स्थापित करेगी। एक दिन जब वह अपने भाई तथा सुशीला भावज के बीच के कलह में बीच-बचाव करने के उद्देश्य से जब वह पीटर्सबर्ग से मास्को आई तो वहाँ अपनी इच्छा के प्रतिकूल व्रान्स्की नाम के एक कौन्ट के प्रेमपाश में फँस गई। व्रान्स्की एक सुरूप, सुगठित, सांसारिक [illegible] में निपुण तथा किसी अंश तक साहसी पुरुष था। पर उसके चरित्र में

स्थिरता नहीं थी । अन्ना की बाल्य-संगिनी किटी के साथ उसके विवाह की आशा की जा रही थी, पर ऐन मौके पर वह अन्ना के असाधारण व्यक्तित्व का शिकार बन जाता है। अन्ना ने भी व्रान्स्की में एक ऐसा विशेषत्व पाया जो उसके आठ वर्ष के निर्विचित्र वैवाहिक जीवन का धूमिल पर्दा फाड़कर उसकी अन्तरात्मा में अकस्मात अत्यन्त तीव्रता के साथ प्रवेश कर गया और भयंकर तहलका मचाने लगा। इस आकस्मिक और अप्रत्याशित तूफान से त्राण पाने के लिये अन्ना बहुत छटपटाई, पर कोई फल नहीं हुआ, बल्कि उसका आवेग निरन्तर बढ़ता ही गया। दोनों का प्रेम गाढ़ से गाढ़तर होता चला गया, और परिणाम स्वरूप अन्ना को गर्भ रह गया। एक लड़की उत्पन्न हुई। स्थिति ऐसी आ गई कि अपने इस सर्वशोषी प्रेम के कारण अपने प्राणों से भी प्यारे, जायज पुत्र और पति को (जिससे वह भयंकर रूप से घृणा करने लगी थी) छोड़कर अन्ना व्रान्स्की के साथ भागकर इटली चली गई। पर इस सामाजिक विद्रोह के बाद भी उसके भीतर निरन्तर द्वन्द्व चलता रहा। उसकी एक आत्मा प्रेम का रस खूब छककर पान करने में मस्त थी, और दूसरी आत्मा उसे हीनता समझकर उससे मुक्ति पाना चाहती है, और आत्म-त्याग द्वारा महत्व में लीन होना चाहती है। पर उपाय कुछ नहीं है। नीतिज्ञ उसे त्यागपूर्वक पति के साथ जीवन यापन करने का उपदेश देंगे, पर सभ्यता के विधि-निषेध से पीड़ित उसकी प्रचंड अग्निमय प्रकृति किसी उत्कट रस को पिये बिना कभी तृप्त नहीं हो सकती। बाह्य उपदेश उसके लिये व्यर्थ सिद्ध होते हैं और भीतर उसकी आत्मा में शक्ति और स्वास्थ्य प्रदान करने में आधुनिक सभ्यता अपने को असमर्थ पाती है। सबसे भयंकर बात यह है कि नवीन स्थिति में वह अन्यान्य व्यभिचारिणी नारियों की तरह अपने को संयोजित नहीं कर पाती। इसका कारण यह है कि उसकी अनुभूति अत्यन्त प्रबल है। अपनी 'चरित्रहीनता' का अनुभव वह स्वयं करती है, पर बेबस है। व्रान्स्की और अन्ना जब इटली से मास्को वापस आते हैं, तो उसे मालूम होता है कि उसका पति कैरेनिन प्रतिहिंसा के कारण उसे तलाक की सुविधा नहीं देता और उसका बच्चा कैरेनिन के ही पास रहने को बाध्य होता है। चूंकि पति उसे तलाक नहीं देता इसलिए व्रान्स्की के साथ उसे कुल्टा की तरह रहना पड़ता है। फलस्वरूप उसकी आत्मा में दुःख

और स्त्रीत्व का लिए अभिभाविक [illegible] सहारा एक मूर्ति रहती है—प्रेम का [illegible] वह अपने जीवन की समस्त स्मृतियों को भी [illegible] एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के बीच में [illegible] सामाजिक परिस्थिति में आता है। परिस्थितियाँ [illegible] जाता है कि उसकी उसके प्रति स्वाभाविक [illegible] वह साथ छोड़कर [illegible] हो जाती है। जिस [illegible] अपने प्राणों से भी प्यारे पुत्र को छोड़ा, जिसने [illegible] की आँखों में इतने आँसू गिर गए, जिसके प्रेम में [illegible] वह अपनी आत्मा को दूर दूर तक संकुचित [illegible] गई, और वह भी नहीं छोड़ दे, तो उसका क्या हाल होगा, [illegible] पागल-सी हो रहती है। अन्त को एक दिन [illegible] कथा को पहुँच जाता है, तो यह रेल के इंजिन के नीचे [illegible] पात कर देती है। कथा के इस हृदयविदारक [illegible] की समस्या का कोई समाधान न हो सकने के कारण उसके [illegible] और भी विकराल बनकर आता है। ग्रंथकार [illegible] ज्ञात पड़ता है कि इस प्रसंग 'ट्रेजेडी' का क्या [illegible] के आगे प्रस्तावित किया जा सकता है। कथा के [illegible] प्रकृति नारी को पूर्ण पातिव्रतधर्म के निर्वाह का [illegible] है। उसके पति के समान उदासीन प्रेमिक तथा [illegible] गृहस्थी को अपने हृदय में अन्त तक सँभाले रखना [illegible] भी [illegible] नारी के लिए असम्भव है। इस कारण कथा के [illegible] के प्रति न तो रूप से समवेदना ही प्रकट की जा सकती है, न [illegible]। आधुनिक सभ्यता ने यह एक नई समस्या पैदा की है।

[illegible] के चरित्र में समस्त स्त्री साहित्य का [illegible] आधुनिक हो जाता है, इसलिए हमने इस चरित्र पर [illegible] रूप से विचार किया है। सभ्यता की संघर्षमयी [illegible] में मानव-हृदय के अन्तस्तल में स्थित असीमता के [illegible] को अपने व्यावहारिक जीवन की तुच्छता से [illegible] करने की चेष्टा है। उसके फलस्वरूप मानव-जीवन में जो आत्मगत तथा सामाजिक विद्रोह की भावनाएँ फूट निकली हैं, [illegible] [illegible] ने उसका [illegible] यथार्थ और मार्मिक प्रदर्शन किया है। [illegible]

का चरित्र केवल रूस तक ही सीमित नहीं है। वह विश्वजनीन है। रवीन्द्रनाथ की विनोदिनी तथा विमला में, शरद्चन्द्र की किरनमयी, पार्वती, अभया आदि चरित्रों में हम अन्ना के ही चरित्र का रूपान्तर पाते हैं। पर हमारे देश में सभ्यता के अत्याचार की अपेक्षा समाज की असभ्यता की पीड़ा अधिक है। विधवा स्त्री की हमारे समाज में कौवे, कुत्ते से भी कम इज्जत है। जिस परिवार में वह रहती है, वहाँ भार स्वरूप हो जाती है, और घर के नौकर-चाकरों की स्थिति उनसे कहीं अधिक उन्नत होती है। ऐसी दशा में वह न तो 'परमार्थ' का का ही चिन्तन कर पाती है, न दूसरी गृहस्थी सँभाल कर फिर नये सिरे से जीवन का चक्र ही चला सकती है। फल यह होता है उनके अन्तस्तल में स्थित नारीत्व का भाव इस प्रकार के पशु-तुल्य सामाजिक अत्याचार से निपीड़ित होकर अज्ञात रूप में आत्म-विद्रोह में परिणत हो जाता है और स्वयं अपने ऊपर अधिकाधिक अत्याचार करती हुई, जीवन की निष्ठुरता और व्यथता की अनुभूति दिन-दिन घुलती हुई यह लीला समाप्त करती है, निष्ठुर समाज के अमानुषिक व्यवहार से उत्पन्न आत्म-विद्रोह का भाव रवीन्द्रनाथ तथा शरद्चन्द्र की विधवा नायिकाओं में प्रबल रूप से पाया जाता है।

पर केवल वैधव्य की कठोर यातना के रूप में ही हमारे समाज के अत्याचार की इतिश्री नहीं हो जाती। शरद्चन्द्र के 'देवदास' में देवदास और पार्वती के विवाह को समाज की कुलीन-प्रथा अनुमोदित नहीं करती। अन्त में एक वृद्ध पति से पार्वती का विवाह होता है, जिद का परिणाम यह होता है कि उद्दाम-प्रकृति किन्तु सहृदय स्वभाव देवदास अनन्त निराशा तथा असह्य दुःख के कारण उच्छृङ्खल बन जाता है, और इसी उच्छृङ्खलता के कारण अकाल मृत्यु का ग्रास बनकर पार्वती के सुखहीन, निर्विकार तथा उदासीन जीवन को भी नष्ट-भ्रष्ट करके व्यर्थता के अतल अन्धकार में ढकेल देता है। 'श्रीकान्त' में अपने नीच तथा नराधम पति अत्यन्त हीन पाशविक आचरण से तंग आकर जब अभया अपने प्रियपात्र रोहिणी बाबू की गृहस्थी सँभालने बैठती है, तो एक ओर वह अन्ना की तरह समाज की घृणा-व्यंजक दृष्टि न सह सकने के कारण आत्मग्लानि से संकुचित हो जाती है, और दूसरी तरफ अपनी स्वाधीन बुद्धि तथा अग्निमय प्रकृति के प्रबल दर्प से अपने आचरण के औचित्य पर गर्व प्रकाश करती है। पर फिर भी उसका अन्तर्मन समाज के प्रति उदासीन नहीं हो पाता।

वह समझ जाती है कि प्रेम चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, समाज की श्रद्धा प्राप्त किए बिना वास्तविक जगत् में वह पूर्ण निभ नहीं सकता। अभया के चरित्र में अन्ना के चरित्र का बहुत साम्य पाया जाता है। अन्ना के समान वह भी तीव्र बुद्धिमती और साथ ही प्रबल अनुभूति-शील है, उसका पति भी अन्ना के पति की तरह उसके प्रति उदासीन है, वह भी पर-पुरुष की गृहस्थी निभाने जाती है; अन्ना की तरह वह सहृदय और चरित्रवान भी है, और साधारण स्वाधीनचित्ता स्त्रियों की तरह वैमनस्यवश अपने पति से अलग नहीं हुई है; दोनों में आत्मगौरव का बड़ा ख्याल है। आधुनिक सभ्यता का बड़ा प्रत्यक्ष प्रभाव इन दोनों नारियों के जीवन पर पड़ा है, पर विभिन्न रूपों में अन्ना सभ्य जीवन की चंचलता और ओछेपन के कारण पीड़ित होती है, और अभया मनुष्यता-प्रसूत स्वाधीन बुद्धि की प्रेरणा के कारण।

'चरित्रहीन' की किरणमयी का चरित्र अत्यन्त जटिल तथा रहस्य-मय है। इस अतुल-रूपसम्पन्ना, प्रखर बुद्धिशालिनी, विलक्षण रमणी के चरित्र को एक सुनिश्चित नियमबद्ध रूप में विचार करना संभव नहीं है। पर फिर भी इतना कहा जा सकता है कि अभया की तरह आधु-निक सभ्यता की नीरसता तथा स्वाधीन प्रवृत्ति का प्रभाव इस पर भी पड़ा है। इस प्रभाव से उसके प्रेमहीन, रसहीन जीवन की समस्या को सुलझाने में सहायता मिलने के बजाय और भी नई जटिल समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। इसलिए उसके जीवन की गति जटिलतर होकर

है। पर प्रेम के रहस्य का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। कोई व्यक्ति क्यों किसी के प्रति तीव्र रूप में आकर्षित होता है, इसका कुछ भी निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। किरणमयी का चरित्र निष्कलंक न होने पर भी वह उपेन्द्र की सच्चरित्रता पर मोहित होती है, और अन्ना चरित्रशील होने पर भी व्रान्स्की की रोमांटिक चरित्र-हीनता पर आसक्त होती है। सभ्यता ने दोनों के अन्तर्मन के भाव-केन्द्र में असामञ्जस्य उत्पन्न कर दिया है। एक प्राच्य देशानुमोदित सामाजिक जीवन की निष्प्रभता से उकताने और सभ्यता की उग्रता को अपनाने के कारण दुःख भोगती है, दूसरी मनुष्य की वैयक्तिक आत्मा को अपनी सुसंगठित वैज्ञानिक शृङ्खला से जकड़ने वाली सभ्यता-नागिनी के विषपाश से बंधने के कारण पीड़ित है। आधुनिक युग की इस विचित्र सभ्यता ने दो विभिन्न रूपों से दोनों के जीवन को जटिल से जटिलतर बना कर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है।

रवीन्द्रनाथ की विमला के जीवन की निःस्सारता का कारण भी यही सभ्यता है। पर किरणमयी तथा अन्ना की तरह उसे सभ्य जीवन के उग्र बुद्धिवादी भाव ने नहीं, किन्तु उसके मनोमोहक मायावी रूप ने मुग्ध किया है। जिस मोहिनी माया के प्रति अन्ना के मन में भयंकर अरुचि उत्पन्न होती है, उसने विमला को प्रबल वेग से आकर्षित किया है। इस दृष्टि से विमला की प्रवृत्ति इन तीनों से भिन्न है। पर उसकी अन्तरात्मा के भीतर असामञ्जस्य का जो संग्राम चलता है, वह उन तीनों के जीवन-संग्राम से मिलता-जुलता है। आधुनिक सभ्यता ने एक-न-एक रूप में सबके जीवन में जटिल समस्या पैदा कर दी है। कवियों तथा औपन्यासिकों ने इस समस्या का कोई निश्चित समाधान पेश करने का प्रयास नहीं किया है। वे युग के पार किसी सुदूर भविष्य में इस समाधान की प्रतीक्षा करते रहे हैं।

आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता ने मानव प्रकृति में जो असामञ्जस्य आरोपित कर दिया है उसके प्रति संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ लेखकों तथा कवियों ने असन्तोष प्रकट किया है। गेटे के सुप्रसिद्ध नाट्य-काव्य के चरित्र नायक फाउस्ट का दुःख इस विचार से और अधिक बढ़ जाता है कि मानव-प्रकृति में स्थित इस असामञ्जस्य के भाव ने मानव-जीवन को एक प्रकार से निष्फल बना दिया है। वह कहता है—

'मनुष्य की महत् आदर्शोन्मुखी कल्पना को एक अज्ञात विजातीय भाव सब समय घेरे रहता है और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहता है। इसका परिणाम यह देखने में आता है कि जब हम प्रेम को प्राप्त कर लेते हैं तो शेष अत्यन्त हीन तथा तुच्छ समझा जाता है। जिन महत् सुकुमार मनोवृत्तियों के अनुशीलन द्वारा हम अपने जीवन को सुगठित करने में समर्थ हो सकते हैं, वे इस तुमुल कोलाहल-कलह के बीच मृतवत् बनी रहती हैं। जब कभी कल्पना आशा के रंग से रंग कर अनन्त के बीच में अपनी उद्दाम प्रवृत्तियों के पंखों को फैलाने का साहस करती है, तो महाकाल की विपुल कुहेलिका में असंख्य आशाओं को दलित तथा चूर्ण-विचूर्ण होते देखकर उसे एक सीमाबद्ध क्षेत्र में ही तृप्त होना पड़ता है। हृदय के अन्तस्तल में चिन्ता-रूपिणी माया सदा अलक्ष्य में अपना चक्र चलाया करती है और भूमि, गृह, गृहिणी, संतान, जल, अग्नि, विष लौह आदि के रूप में नित्य नये-नये वेष बदलती रहती है। जिन आघातों को हम व्यक्तिगत रूप से अनुभव नहीं करते उनका भी भय हृदय में सदा बना रहता है, और जिस वस्तु को हम कभी खो नहीं सकते उसके लिए भी हम सर्वदा सशंकित रहते हैं।"

इस प्रकार दुःख तथा चिन्ताओं के बीच फाउस्ट को जीवन की कोई सार्थकता नहीं दीख पड़ती और वह विषपान करने के लिए उद्यत हो जाता है। जिस "विजातीय भाव" का उल्लेख फाउस्ट ने किया है वह आधुनिक सभ्यता-जनित पूर्वोक्त असामञ्जस्य का ही रूपांतर है। गेटे के समकालीन तथा परवर्ती प्रायः सभी यूरोपियन कवियों और कलाकारों की रचनाओं में इसी 'विजातीय भाव' जनित-पीड़न की छाया पाई जाती है। इस छाया के भीतर मानव-चरित्र की दुर्बलता तथा मानव-जीवन की असफलता की विषादमय लीला अपूर्वरूप से चित्रित हुई है। यहाँ 'विजातीय भाव' कलाकारों को बार-बार निरुत्साहित करके विषादमग्न करता रहा है, और वे, अपनी इच्छा के विरुद्ध, जीवन की असफलता को अनिवार्य समझकर प्रकृति की इस निष्ठुरता को जी मसोस कर ग्रहण कर लेते हैं। इस असफलता की अनुभूति जिस कलाकार में जितनी तीव्र होती है, पाश्चात्य आलोचकों ने उसे उतना श्रेष्ठ बताया है। गेटे के काव्यात्मक उपन्यास 'वेर्टेर' में नायक अपने जीवन की असफलता-जनित अनुभूति पर जो भाव प्रकट किया

है। 'वेर्टर' में गेटे ने अपनी तात्कालिक मानसिक स्थिति का चित्र खींचा है, इसलिये वेर्टर की अनुभूति को गेटे की ही अनुभूति समझना चाहिये। रूसो ने अलक्ष्य अभिमान के साथ [illegible] होकर अपने असफल और 'ट्रेजिक' जीवन की स्वीकारोक्ति किया है। टाल्सटाय की स्वीकारोक्ति के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ अंश में यह बात सत्य सिद्ध होती है। तुर्गनेव के कई नायकों का यही हाल है। चेखाव के सहृदयता-हीन चरित्र नायक को भी अपनी असफलता पर दुःख प्रकट करने में गर्व अनुभव करते पाया जाता है। वह बार-बार कहता है—"मैं एक असफल व्यक्ति हूँ। मेरे प्यारे मित्र, तुम हम लोगों से क्या आशा करते हो—हम, जो कि [illegible] वाले देश के खंडहर हैं? हम लोग अब विकृत हो गये हैं; हम सब सभ्यता की निःशक्त और सत्त्वहीन सन्तान हैं। सभ्यता ने हम लोगों को पंगु बना दिया है।" इस प्रकार की थोथी बातों से वर्तमान मानव की चरित्रगत दुर्बलता को अनिवार्य सिद्ध करके चेखाव का पूर्वोक्त पात्र जैसे गर्व के साथ अपनी चरित्रहीनता की सफाई देना चाहता है।

तात्पर्य यह है कि आधुनिक सभ्य समाज की जटिल स्थिति के कारण मनुष्य एक ओर जीवन की असफलता को अपरिहार्य समझे बैठा है, और दूसरी ओर किसी अज्ञात वाह्योन्मुखी शक्ति से प्रेरित होकर उस अपरिहार्य क्षति के निमित्त जब वह फिर कराहने लगता है, तो [illegible] है। इस प्रकार दुःख तथा निराशा [illegible] होकर वर्तमान युग का कलाकार [illegible] निराकृत नहीं करना चाहता, बल्कि [illegible] जीवन की करुणा को अपने हृदय में [illegible] प्रतिफलित [illegible]

[illegible] किसी । [illegible]
[illegible] शब्दों में [illegible] दुर्बलताओं के
प्रति सहानुभूति प्रकट हो गई है। [illegible]
[illegible] नायिकाओं [illegible] दृष्टि से देखते
थे। [illegible] ने अपने [illegible] दुर्बलता के
[illegible] के प्रति [illegible] नहीं [illegible]
है। पर [illegible] से [illegible]
[illegible] में [illegible]
[illegible] दुर्बलता की समस्या [illegible] सहानुभूति
के साथ [illegible] चित्रित किया है। [illegible] और
[illegible] स्वभाव की [illegible]
है। [illegible] में [illegible]
जाता है। पर [illegible] और [illegible]
[illegible] दोनों [illegible]
[illegible] होने पर भी [illegible] हो जाती है
[illegible]
[illegible] और [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] हो जाती है।
[illegible] और [illegible] आदि की
[illegible] । पर बाद
[illegible] हुई, उसका
[illegible] है, हे भगवान!
[illegible] था!
[illegible] पर [illegible]
[illegible] दुर्बलता [illegible]

पर दुर्बलता-पीड़ित व्यक्ति के प्रति बिना सहानुभूति प्रकट रहा नहीं जाता। अन्त में मार्गरेट फाँसी पर लटकाई जाती है; फाउस्ट अन्त तक उसका साथ देता है, पर वह बेबस है। मानव जीवन की इस जटिल समस्या का समाधान वह सहज में नहीं कर पाता।

'फाउस्ट' यद्यपि उपन्यास नहीं है, तथापि उसने मानवत्व की ओर यूरोप के परवर्ती लेखकों को प्रेरित किया। विक्टर ह्यूगो को अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'ले मिजेराब्ल' लिखने की जो प्रेरणा प्राप्त हुई उसमें फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की प्रतिक्रिया का जबर्दस्त हाथ था, सन्देह नहीं; पर पतित मानव के प्रति समवेदना का भाव प्रस्फुटित करने की प्रेरणा ह्यूगो को रूसो और गेटे से ही प्राप्त हुई। ह्यूगो की इस अमर रचना में दीन, दुखित, सभ्यता तथा समाज द्वारा पीड़ित दुर्बल व्यक्तियों के प्रति अत्यन्त सुहृद-भाव व्यक्त होने से यूरोप-साहित्य समाज में बड़ी हलचल मच गई। तब से प्रायः समस्त यूरोपियन साहित्य में वैयक्तिक मानव की यातनाओं के चित्रों के भीतर मानवत्व का ही भाव व्यक्त किया जाने लगा। रूसी लेखकों ने इस भाव को बड़ी सरगर्मी से अपनाया और अपनी स्वाभाविक समवेदनाशील तथा अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी अन्तर्दृष्टि की सहायता से उस भाव को ऐसे गहन विश्लेषणात्मक रूप से व्यंजित के किया जैसा न उनके पहले पाया न बाद कहीं देखने में आया। डास्टा-एव्स्की उपन्यास 'अपराध और दण्ड' में जब एक बुभुक्षित कुटुम्ब की सहृदय लड़की सोनिया जब अपने माता-पिता का घोर कष्ट आँखों से न देख सकने के कारण उनके भरण-पोषण के उद्देश्य से अपनी आत्मा को निष्कलंक रखते हुए अपनी देह को कलंकित करने के लिए बाध्य होती है, तब उपन्यास का सच्चरित्र तथापि खूनी नायक रास्कोलनिकोव इस सदाचारिणी पतिता नारी के सुकठिन त्याग पर मुग्ध होकर उसके पैरों पर लोट कर कहता है—"मैं तुम्हारी आत्मा में प्रतिबिंबित पीड़ित मानवता को श्रद्धापूर्वक सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।" मेक्सिम गोर्की के "त्रयी" नामक उपन्यास का नायक ईलिया सहृदय, सच्चरित्र तथा विवेकी होने पर भी अर्थवाद के प्रति आन्तरिक घृणा होने के कारण एक धनपति की हत्या अत्यन्त निर्दयतापूर्वक करता है। अत्यन्त भयावह, कठोर दुःखमय, घोर कष्टमय हीन स्थितियों का सामना करते हुए ईलिया ने युवावस्था में पाँव रखा था। चरम निर्धनता के कष्टों से वह भली भाँति परिचित था। निर्धन,

समाज-पीड़ित, शोषित जनता के प्रति उसकी आन्तरिक सहानुभूति थी। इस कारण पूँजीपतियों का नीच व्यवहार देखकर उसके सिर से लेकर पाँव तक आग जल उठती थी। एक ओर कोई आदमी दाने-दाने को मुहताज होकर जीर्ण-शरीर तथा क्लिष्ट-प्राण बन कर अपनी महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देने के लिए बाध्य हो, और दूसरी ओर एक निखट्टू, महत्वाकांक्षाहीन, उच्च आदर्शों से रहित वृद्ध गृद्ध भूत की माया को अनन्त काल तक अतृप्त हाथों से भोग करते रहने की दुराशा करके कौड़ी-कौड़ी करके उसके सञ्चय में व्यस्त रहे! इलिया के समान तीव्र अनुभूतिशील, तेज स्वभाववाला व्यक्ति यह बात नहीं सह सकता था। उसने उस वृद्ध गिद्ध को दिन दहाड़े गला घोंटकर मार डाला और उसका धन लेकर चम्पत हुआ। उसके इस कार्य को पाप कहें या पुण्य, कुछ समझ में नहीं आता। जीवन की अनेक जटिलताओं का अनुभव करता हुआ यह चिर-दुःखी युवक इसके बाद समाज के अत्याचार से पीड़ित एक अभागिनी, महत्हृदया, स्नेहशीला वार-वनिता को प्यार करने लगता है। जिस "वृद्ध गिद्ध" का खून उसने किया था वह इसी पतित रमणी को अपने धनबल से जकड़े था। कुछ भी हो इस पतिता नारी के सहृदय प्रेम से इलिया का हृदय महत्तर बन जाता है, और बदले में इलिया का सच्चा स्नेह पाकर वह वेश्या भी उन्नत-चरित्र बन जाती है, और चकला छोड़कर अलग रहने लगती है। दोनों के दुःख-पूर्ण जीवन के कड़वे अनुभव दोनों को त्यागमय प्रेम के लिए प्रेरित करते हैं। अन्त में जब खून के अपराध में ... कर लिया जाता है, तो वह सभ्य मानव के हृदय-हीन ... की निष्ठुरता से उकताकर आत्मघात कर लेता है— ... के कृत्रिम कानूनों के आधार पर किए गए विचार द्वा... अपमानकर समझता है। इस दिल दहला देनेवाली ... विषादमय और दुःखान्त कहानी का नैराश्यपूर्ण मौन ...

शरत्चन्द्र के उपन्यासों में हम त्रस्त, समाज-पीड़ित ... के प्रति जिस गहरी समवेदना का प्रकाश पाते हैं, ... सभी उपन्यासकारों से ही प्राप्त हुई है। चंद्रमुखी ... के प्रति देवदास की सहानुभूति, राज लक्ष्मी के ... असफलता के प्रति श्रीकांत की आन्तरिक समवेदना, ... की सुशीला कन्या के साथ चंद्रनाथ का समाज वि... अनेक उदाहरणों का उल्लेख किया जा सकता है

सतीश तथा सावित्री के दुःखमय जीवन की निष्फलता के मर्मस्पर्शी चित्र से भी मानवत्व का सुन्दर भाव व्यक्त हुआ है। शचीन्द्रनाथ की विनोदिनी और विमला के हृदय उनकी चारित्रिक दुर्बलताओं के पारस्परिक संघर्ष से पैदा हुई आग से तपकर शुद्ध होते हैं। जब तक वे दुर्बलताओं के बहाव में बह जाते हैं, तब तक लेखक का हृदय उनका साथ देता रहता है। पर जब जीवन के उत्कर्षशील क्षणों में अन्तःशुद्धि होने पर वे प्रतिदिन की तुच्छता के बीच में जीवन की विफलता का अनुभव करने लगती हैं, तब लेखक उन्हें स्वयं अपने जीवन पर विचार करने का अवकाश देकर उनका साथ छोड़ देता है। उनके अन्तस्तल में छिपा हुआ मानवत्व प्रस्फुटित करना ही लेखक का उद्देश्य रहा है, न कि उनकी दुर्बलताओं पर शासक की तरह विचार करने का। इसी उदार समवेदना ने लेखक की कला को महिमा-मण्डित कर दिया है।

पर जहाँ एक ओर इस मानव-वाद (अर्थात् मानवीय दुर्बलताओं के प्रति उदार करुणा प्रदर्शित करके उन दुर्बलताओं के कारण ही अंतःसार-रहित-नायकों की चातुरी से महिमान्वित करने का सिद्धान्तवाद) ने उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके बाद की औपन्यासिक कला में एक अपूर्व विशेषत्व प्रदान किया है, वहाँ दूसरी ओर उसने स्वस्थ यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की उपेक्षा द्वारा समाज का बड़ा अहित भी किया है। इस कमी की पूर्ति तथा हिन्दी के आधुनिकतम उपन्यासों द्वारा हो सकेगी इस बात की आशा मैंने अपने एक दूसरे लेख में प्रकट की है।

आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण

इस घोर संघर्ष के युग में भी, जब कि सारे संसार में विनाश और विध्वंस का नंगा नाच हो रहा है और प्रतिदिन हजारों आदमी रण-चण्डी की बलि होकर कौवों और कुत्तों की मौत मर रहे हैं, बीसवीं सदी के पूर्णरूप से सुरक्षित नगरों में रहते हुए भी सहस्रों नर-नारी और निरपराध बच्चे परम अरक्षित अवस्था में अविवेकी बमवर्षकों द्वारा तुच्छ कीड़ों की तरह पीसे और कुचले जा रहे हैं—ऐसे भयंकर और तूफानी युग में भी जब हम अपने साहित्य के ध्वजाधारियों को रात-दिन के जीवन के यथार्थवादी पहलू की ओर से मुँह मोड़ते देखते हैं, तो केवल परम आश्चर्य ही नहीं, आन्तरिक दुःख भी होता है। समस्त विश्व की सत्ता को डगमगाते देखने पर भी हमारे साहित्यिक पंडे अभी तक जीर्ण आदर्शवाद को जकड़े बैठे हैं और उसी का नारा बुलन्द किए चले जा रहे हैं, इससे वास्तव में मानव-स्वभाव के एक विचित्र रूप का रहस्य हमारे सामने आता है। सिन्दबाद जहाजी का जहाज जब एक बार एक जबर्दस्त तूफान के धक्कों के कारण डूब गया, तो वह बड़ी मुश्किल से डूबता-उतराता हुआ एक ऐसे स्थान पर पहुँचा, जो उसे एक द्वीप की तरह दिखाई दिया। उस 'द्वीप' पर उतरने के बाद उसने अपने को बहुत भाग्यशाली समझा और ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि वह एक सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया। चारों ओर अशान्त समुद्र की तूफानी तरंगें विकट शब्द से तर्जन-गर्जन कर रही थीं ; पर सिन्दबाद उस 'टापू' में स्थिर भाव से निश्चिन्त होकर बैठा हुआ था। किन्तु उसकी यह निश्चिन्तता अधिक समय तक स्थायी नहीं रही। अचानक उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे सारा 'टापू' भयंकर भूकम्प के कम्पन से हिल उठा है और सारी जमीन उलटने को है। कुछ समय बाद उसे असली बात का पता लगा और वह बुरी तरह घबरा उठा। उसके आगे यह रहस्य खुला कि जिसे वह 'टापू' समझे था, वह वास्तव में एक विराट् मत्स्य-जातीय जीव था। अपने को पहले से भी बड़े खतरे में जानकर सिन्दबाद फिर से समुद्र में कूद पड़ा। हमारे साहित्य-जगत् के ध्वजाधारीगण अपने चारों ओर के प्रलयंकर तूफान के बीच में ठीक उसी प्रकार के 'टापू' पर आसन

जमाए हुए अपने को सुरक्षित समझे बैठे हैं। चारों ओर के प्रलय-पयोधि-जल के बीच में वे जिस पौराणिक मत्स्य-जातीय विराट् जीव की पीठ पर बैठे हुए हैं उसे वे साहित्य का भी पीठस्थान समझे बैठे हैं और वहीं से निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व भाव से यथार्थवादियों पर कौतुक उछाल कर अपनी आदर्शवाद के लेक्चर-पर-लेक्चर पिलाते जा रहे हैं। ऊँटाकार पक्षी-विशेष की जाति से प्रेम रखनेवाले इन महापुरुषों को एक बार पूरी ताकत से इस बात की चेतावनी देने का समय आ गया है कि उनकी स्थिति एकदम अरक्षित है और समय रहते यदि वे न सँभले, तो उन्हें निश्चित रूप से तूफ़ानी समुद्र में गर्क हो जाना पड़ेगा।

आश्चर्य इस बात पर अधिक होता है कि यथार्थवाद से—प्रतिदिन और प्रतिपल के घोर संघर्षमय जीवन के कठोर सत्य से—केवल पिछले युग के आदरणीय गुरुजन ही सशंकित नहीं हो उठे हैं, बल्कि बहुत से नयी पीढ़ी के सुकुमार-कल्पना-प्रिय तरुण साहित्यिक भी भड़कने लगे हैं। यथार्थ से भागने वाले तरुण साहित्यिकों में विशेषकर वे लोग हैं, जिनके व्यक्तित्व का पालन पोषण छायावादी कविता के ललित-ललित और कोमल-कोमल कुसुमों के कलित-केसर, पुलकित-पराग, मधुर-मधु और सरस-सुवास द्वारा हुआ है। फल-स्वरूप इन तरुणों के अलस-लालस माया से आच्छन्न हृदयों में एक ऐसा अफ़ियूनी नशा छा गया है, जो जीवन की किसी भी यथार्थता को अपने पास फटकने नहीं देना चाहता और भरसक उसका प्रतिरोध करता है। इस ललित-भावानुगामी दल की संख्या दिन-पर-दिन घटती जा रही है, इसमें संदेह नहीं; पर फिर भी उसका बहुत-कुछ प्रकोप अभी तक जारी है।

एक और तरुण-वर्ग है, जो जीवन की कठोर वास्तविकता का जबर्दस्त प्रतिरोधक है। इस वर्ग को हम देवदास पंथी सम्प्रदाय कहना उचित समझते हैं। (स्मरण रहे, यह 'देवदास' 'देवदासी' का पुल्लिंग-वाची शब्द नहीं है।) जब से शरच्चन्द्र के 'देवदास' नामक प्रसिद्ध उपन्यास ने फ़िल्म के रूप में हिन्दी-जगत् में प्रवेश किया, तब से हमारे तरुण साहित्यिकों के एक बहुत बड़े भाग के भावना-लोक में एक निराली ही मादकता छा गई, जो छायावादी युग की अलस-लालस-माया से कई गुना अधिक तीव्र और साहित्य के व्यापक कल्याण की दृष्टि से अत्यन्त घातक सिद्ध हुई। 'देवदास' में यथार्थवाद का ढाँचा अवश्य वर्तमान है; पर वह ढाँचा केवल ढाँचा ही रह गया है और उसके

शरीर तथा आत्मा का निर्माण छायावादी युग के सस्ते 'रोमांटिसिज्म' के मूल उपादानों से हुआ है। 'रोमांस' की यह धारणा वर्तमान युग के घोर यथार्थवादी—कठोर वास्तविकतावादी—दृष्टिकोण के उपन्यासों में भी मिलेगी (सच तो यह है कि प्रारम्भिक काल से लेकर वर्तमान समय तक विरला ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण उपन्यास देखने में आयेगा, जिसमें नर-नारी के पारस्परिक प्रेम की समस्या किसी-न-किसी रूप में न ली गई हो) ; पर 'देवदास' के तथा आधुनिकतम युग के सच्चे यथार्थवादी उपन्यासों के 'रोमांसों' में एक मूलगत अन्तर है। 'देवदास' का आत्मलीन, अन्तःसारहीन, चारित्रिक बल से एकदम रहित, भावुकता के साबुनी बुदबुदों से भरे हुए हृदयवाला नायक जब अपनी मनचाही प्रेमिका को न पा सकने के कारण पतन के गर्त में गिरता है और सस्ते वेश्यालय को 'कवित्वपूर्ण' मधुशाला बनाकर अपनी भावनाओं को बोतलों में डुबाने लगता है, तो लेखक पूरी तरह से उसका साथ देता है और उसके प्रति पाठकों की भी समवेदना जगाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। चरित्रहीनों के प्रति सहानुभूति जगाने की चेष्टा भारत में शरत्-कालीन और यूरोप में सोवियत्-पूर्व-रूस-कालीन कवियों और औपन्यासिकों की विशेषता रही है। फिर भी रूसी लेखकों ने अपनी इस प्रकार की प्रवृत्ति और चेष्टा को एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने दिया था ; पर शरत्चन्द्र का एकमात्र उद्देश्य ही ऐसे निकम्मे, आलसी, अहंभावापन्न और चरित्रहीन नायकों के पतन को महिमान्वित करने का रहा है। इस दृष्टिकोण से आधुनिकतम कथाकार के दृष्टिकोण में मूलगत विरोध पाया जाता है। आधुनिकतम कलाकार यदि अपनी कथाओं में चरित्रहीन और रोमांसवादी पात्रों की अवतारणा करता है तो केवल इसलिए कि वह अपने मनोवैज्ञानिक अस्त्र से उनकी आत्मा का स्तर-प्रति-स्तर खोलकर उनके घोर अहंभाव में 'कवित्वमय' प्रेम का पोल-प्रकाश करना चाहता है, उनके रोमांस की इन्द्रधनुषी रंगीनी से पाठकों की आंखों में चकाचौंध पैदा करना वह किसी प्रकार भी उचित नहीं समझता। औपन्यासिक आदर्श का यह दृष्टिकोण एकदम नया, सच्चे अर्थों में यथार्थवादी और समाज की सामूहिक आत्मा के परिष्करण के लिए परम मांगलिक है। चूँकि वह मूलतः नया दृष्टिकोण पूर्वोक्त देवदास-पंथी सम्प्रदाय के अलस-विलासितामय स्वप्न को, भग्न-प्रेम की मधु मोहमयी प्रतिक्रियारूपी खुमार को अत्यन्त निर्ममता के साथ तहस-नहस करता है, इसलिए उस वर्ग के बीच में वह कभी लोकप्रिय नहीं हो सकता।

देवदास की उच्छृङ्खलता के प्रति समवेदनशीलता का रस उत्पादन करके और उस रस पर खमीरा चढ़ाकर उसे एक विशेष वर्ग के पाठकों के बीच में वितरित करके 'देवदास' के लेखक ने जो मतवालापन फैलाया, वह किसी भी बजारू मधुशाला के मतवालेपन से किसी कदर कम नहीं था। उस रस के छायावादी और हालावादी रोमांटिक रसों के साथ मिलने से जो उग्र 'काकटेल' तैयार हुआ, उसे पान करके हिन्दी के बहुत-से साहित्य-प्रेमी उन्मत्त हो उठे। कुछ लोग तो देवदास के ऐसे कट्टर अनुयायी बन गये कि अपने बाजारू प्रेम के भग्न होने की कल्पना देवदास के प्रेम की असफलता से करके उसीकी तरह वेश्यालयों में मधुपान करने लगे और केवल इतनी ही बात से अपने को समाज-दलित, अन्याय-पीड़ित, शोषित और महान् प्रतिभाशाली उपेक्षित कलाकार समझने लगे। हमारे एक सुप्रसिद्ध कवि-हृदय आलोचक बन्धु तो देवदास के 'पतन की महानता' से इस कदर प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना उपनाम ही 'देवदास' रख लिया। इस नाम से उनकी कई चीजें छपी हैं। केवल यही नहीं, उन्होंने देवदास पर एक कविता ही लिख डाली, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

हे देवदास, हे चिर-उदास,
पागल के उर के महोच्छ्वास!
तुम महाशून्य के अधिवासी
क्यों भवसागर में लिया वास?

किस अमृत-लाभ के लिए बन्धु
कर गये गरल-पर-गरल पान?
हे नग्न, शान्त, क्या मिला तुम्हें
केवल विषाद का महादान?

उस ज्वाल-सिन्धु में कौन आह
जल सका अरे ले मृदुल प्राण?
हे सरल हृदय, ले तरल प्रणय
मिल सका किसे कब कहाँ त्राण?

चिर-प्रेम-चिता की शय्या पर
लपटों ने तुमसे रचा रास,
वह करुण कथा, वह करुण व्यथा
बन गयी नियति का एक हास।

कविता के भावोद्गार बड़े मार्मिक रूप से प्रकट किये गये हैं, यह
ानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना
कि एक अत्यन्त क्षीण-प्राण, दुर्बल-हृदय, असच्चरित्र नायक के प्रति
ध मोहाकर्षण का कैसा तूफानी आवेग हमारे भावुक, कवि-प्राण
लोचक बन्धु ने प्रदर्शित किया है। शरत् के चरित्रहीन नायकों के
यह दृष्टिकोण केवल पूर्वोक्त कवि-हृदय आलोचक मित्र का ही नहीं,
क हिन्दी के अधिकांश तरुण साहित्यिकों का भी रहा है। इस
भाव ने कैसे घोर अस्वास्थ्यकर वातावरण से हिन्दी-साहित्याकाश
कुछ वर्षों से छा रखा है, अनुभवियों को इस विषय में कुछ बतलाने
आवश्यकता न पड़ेगी। हम पाठकों से इस बात पर ठण्डे दिल से
ार करने का अनुरोध करेंगे कि जो नायक इस कदर दुर्बल हैं कि
छत प्रेमिका को प्राप्त न कर सकने के कारण शराब के नशे से
श होकर चौबीसों घण्टे वेश्यालयों में पड़ा रहता है, उसका चरि
 क्या वास्तव में इतना महान् और काव्यात्मक है कि उसे
ान्वित करके उस पर करुणाविगलित आँसुओं की अविरल धाराएँ
ई जाँय? जिस नायक में इतनी शक्ति और समझदारी नहीं है कि
अपने भग्न-प्रेम की अनुभूति को समुन्नत रूप देकर उसे नैतिक
ास तथा सामाजिक कल्याण की ओर नियोजित करे, जो अपने
ल प्रेम की प्रतिक्रिया के कारण पतन के निम्नतम गढ़े में गिरकर
म-विनाश को ही पौरुष की चरम सीमा समझता है, वह क्या
मुच आदर्श-प्रेमी माने जाने योग्य है, या सामाजिक उत्थान के
 विष-वृक्ष के बीज की तरह घातक है और समूल नष्ट कर दिये
 योग्य है? यथार्थवादी उपन्यासों में ऐसे अधम नायकों की
ारणा होने में हमें कोई आपत्ति नहीं है; (बल्कि सच पूछा जाय
आधुनिक उपन्यासों में हमें अधिकतर असच्चरित्र और नरक के
ों के तुल्य गलित नायकों की ही आशा करनी होगी।) आपत्ति
 इस बात पर है कि 'पापी के प्रति करुणा' के नाम पर ऐसे नरक-
 जीवों के पतन को महिमान्वित न किया जाय, बल्कि उनके
न्त जटिल और विकृत अन्तस्तल के प्रति स्तर में छिपे हुए घोर
कवादी, आत्म-कामी और असामाजिक संस्कारों की पोल खोल
समाज को इस बात की चेतावनी दी जाय कि इन विष-वृक्ष के
 और नरक के कीड़ों से सावधान रहकर वह अपनी रक्षा करता
ऐसे व्यक्ति न केवल पतन-प्रेमी होते हैं, बल्कि—जैसा कि कहा

जा चुका है—अत्यन्त आत्मलीन तथा निपट स्वार्थी भी होते हैं। देवदास पार्वती से 'प्रेम' करता था, सन्देह नहीं; पर वह कभी पार्वती के सात्विक प्रेम का महत्त्व उसके (पार्वती के) दृष्टिकोण से—अथवा सच पूछिये तो किसी भी दृष्टिकोण से—नहीं समझ पाया। वह इस कदर आत्मरत और आत्मकेन्द्रित था कि पार्वती के स्वाभिमान के व्यंग का मर्म न समझकर उसने बांस की लकड़ी के मोटे सिरे से उसके कपाल पर ऐसे जोर से आघात किया कि उसका कपाल फट गया और रक्त की धारा बहने लगी। अपनी सामाजिक सत्ता को बनाये रखने के लिये उसने पार्वती को इस बुरी तरह से अपमानित करके ठुकराया, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। अन्त में वह इधर का रहा न उधर का—चौतपुर के नरक में गर्क हो गया। उसके चरित्र का अध्ययन भली-भांति करने पर इस बात पर तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि यदि किसी घटनाक्रम से पार्वती के साथ उसका विवाह हो भी गया होता, तो वह उससे ऊब कर निश्चित रूप से चौतपुर की गन्दी नालियों में बहनेवाले कीड़ों का साथ देता। किन्तु यह सब होने पर भी लेखक ने इस हर तरह से भ्रष्ट नायक के प्रेम को—परोक्ष रूप से—स्वर्गीय बनाया है और उसके पतित चरित्र पर कोमल कवितामयी करुणा की इन्द्रजाली रंगमयता का ऐसा प्रकाश डाला है कि प्रत्येक पाठक उसे उसी सम्मोहक रंगीन नज़र से देखने लगता है।

हिन्दी-साहित्य-जगत् में गुलाम मनोवृत्ति अभी तक किस कदर छाई हुई है, इस बात का ज्वलन्त प्रमाण केवल इसी एक बात से मिल जायगा कि शरत् के जिन उपन्यासों में (और ऐसे उपन्यासों और कहानियों की संख्या काफी है) भ्रष्ट-चरित्रों की महिमा गाई गयी है, उनका स्वागत हमारे कला-पारखी पण्डितों ने अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं को बढ़ाकर किया है, और हिन्दी के जिन नव-प्रकाशित उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य अहंवादी, आत्मकामी और पतित पात्रों के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक एक्स-किरणों द्वारा करके उन पर निर्मम रूप से कशाघात करना और उन चरित्रहीन नायकों की निष्ठुर चीर-फाड़ द्वारा समाज का परिष्करण करके नैतिक स्वास्थ्य का स्थापन करना है, उनकी निन्दा के लिये दल-के-दल संगठित होते चले जा रहे हैं; और वह निन्दा भी इस आधार पर कि वे उपन्यास 'भ्रष्ट' हैं—केवल इसलिये कि उनमें भ्रष्ट-चरित्रों की अवतारणा की गयी है!

भ्रष्ट-चरित्रों की अवतारणा किस उद्देश्य को सामने रखकर की गयी है, इस बात को जानते हुये भी हमारे परिपन्थगण न जानने का ढोंग रचना चाहते हैं। उनके इस ढंग के मूल में कौन-सी मनो-भावना काम कर रही है, इस बात पर प्रकाश डालने का न तो यह उपयुक्त अवसर है और न हमारा उद्देश्य ही।

एक उपन्यास है, जिसका उद्देश्य एक व्यभिचारात्मक, दुश्चरित्र नायक के पतन और विकृति को गौरवान्वित करना है, उसकी प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं और उसे कलापूर्ण और समाज के लिए कल्याणप्रद बताया जाता है। दूसरा उपन्यास है, जिसमें समाजगामी पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उनका यथार्थवादी चित्र सामने रखा जाता है और उनके विभिन्न संघर्षों से उबारकर अथवा उन्हें ठीक रास्ते पर लाकर समाज किस प्रकार अपनी प्रगति की ओर अग्र-सर हो सकता है, इस बात का सुझाव पेश किया जाता है। पर दूसरा उपन्यास इसी कारण से निन्दनीय समझा जाता है! आज यदि कोई यक्ष युधिष्ठिर की तरह हमसे भी प्रश्न करता कि 'किमाश्चर्य मतः परम्?' तो हम उत्तर में यही बात बताते।

यह बात नहीं कही जा सकती कि हमारे अधिकांश परिपन्थी समालोचक महान् साहित्यिकों में सत्-असत्-विवेचन तथा विशेषताओं को देखने और परखने की मेधाविनी दृष्टि नहीं है। वह दृष्टि उनमें है और खूब पैनी है। पर कुछ ऐसे विरोधी संस्कार उनके मन पर पड़े हुए हैं, जो कभी-कभी उनके विवेक पर भी विजय पा लेते हैं। इसी कारण साहित्य में किसी भी नये दृष्टिकोण का सहर्ष स्वीकार करने के लिये वे तैयार नहीं होते, और तब तक उसका बराबर प्रतिरोध करते हैं, जब तक समय और वातावरण अनुकूल उन्हें मानने को बाध्य न करे। इस प्रतिरोधी मनोवृत्ति से यदि वे हिन्दी साहित्य की प्रगति के मार्ग में कैसे भयंकर रोड़े अटकाते हैं और अभी तक अटकाते चले जाते हैं, इसके कारण कितना घोर अहित आज तक हिन्दी का हुआ है और होता चला जा रहा है, अनुभवियों से यह बात छिपी न होगी। अन्य प्रान्तीय अथवा अन्य देशीय साहित्यों के साथ आज भी हिन्दी-साहित्य कन्धे-से-कन्धा मिलाने में जिस संकोच का अनुभव कर रहा है, उसमें प्रतिभा-शाली साहित्य-रचयिताओं का दोष उतना नहीं, जितना हमारे प्रतिभा-शाली विवेचकों का प्रतिरोधी संस्कार है, यह बात दुःख के साथ स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

देवदास-पंथियों के अतिरिक्त एक और दल हमारे साहित्य-समाज में है, जो साहित्य में यथार्थवाद की महत्ता स्वीकार तो करता है, पर केवल एक अत्यन्त संकीर्ण सीमा तक। इस स्कूल के मतानुसार किसी उच्चकोटि के उपन्यास में वास्तविक जीवन के संघर्ष-विघर्ष, प्रेम और प्रतिहिंसा, घृणा और विद्वेष, पीड़न और निर्यातन का तूफानी विस्फूर्जन नहीं रहना चाहिए—गरज यह कि जीवन के मूल केन्द्र में जो महत्वपूर्ण घटनाचक्र कभी एक झीने पर्दे की ओट में और कभी खुले तौर पर संघटित होते रहते हैं, जिनके बिना जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, उनसे एकदम मुँह मोड़ लेना चाहिये, और केवल महाजीवन-प्रवाह के किनारे पर जो तत्त्व निष्क्रिय और निश्चल रूप से वर्त्तमान हैं, उनको लेकर तटस्थ दार्शनिक भाव से खेलते रहना ही ऊँचे दर्जे की औपन्यासिक कला है। इस मत के अनुयायी यह बात भूल जाते हैं कि वे अपने अनजान में छायावादियों तथा देवदास-पंथानुगामियों से भी अधिक भयंकर रूप से पलायन-वृत्ति से विवश हैं। यदि वे शान्त भाव से आत्मविश्लेषण करें, तो अपने मानसिक चक्रजाल (Compley) से वे स्वयं भयभीत हो उठेंगे। इन तटस्थवादियों को चाहिये, वे अपने इस भयंकर भ्रम को जड़ से उखाड़ डालें कि उच्चकोटि की कला शान्त, संयत और तटस्थ होती है और केवल मौन इङ्गितों से अपनी बात कहती है। साहित्य और कला के आदि-युग से लेकर आज तक जितने भी प्रकार की उच्चतम श्रेणी की कला-कृतियाँ काल की अग्नि-परीक्षा में खरी उतरने के बाद अपना महत्व प्रमाणित कर पाई हैं, उन सब ने जीवन के केन्द्र में गरजने-तरजने और फुफकार मचाने वाले तूफानी घटनाचक्रों को परिपूर्ण साहस के साथ अपनाया है। यही कारण है कि साहित्यिक क्रान्तियों की कितनी ही लहरें आयीं और गयीं; किन्तु घटनाचक्रवादी शेक्सपियर जहाँ-का-तहा स्थित है। रूस के बड़े-बड़े औपन्यासिक महारथी विश्व-साहित्य के रंगमंच पर आये; पर टाल्सटाय और डास्टाएव्स्की, और बहुत कुछ अंशों में गोर्की इस प्रलय-बाढ़ के युग में भी अपनी सत्ता पूर्ववत् कायम रखने में समर्थ हुए; और तटस्थतावादी तुर्गेनिव का साहित्य विगत महायुद्ध के पहले ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। कारण यह है कि तुर्गेनिव सच्चा कलाकार होने पर भी तटस्थ रह गया —अर्थात् जीवन के तट पर ही स्थित रहकर कोरी काव्य-कल्पना में रमा रहा और कला को केवल कला के लिए मानने की सीमा तक ही

बँधा रहा। पर डास्टाएव्स्की आदि प्रखर [illegible] ने जीवन [illegible] के भँवर के बीच में गोते लगाकर तरंगों [illegible] के [illegible] प्राप्त किये, उन्हें कला का रूप दिया, और केवल [illegible] ही सन्तुष्ट न रहकर उन्होंने जीवन के तूफानी सागर [illegible] को निश्चित और कल्याण-प्रद लक्ष्य सुझाया। [illegible] रहकर जीवन और उसकी समस्याओं के साथ [illegible] — चाहे वे तुर्गेनिव के नबेरे भाई हों, चाहे [illegible] के—कभी काल की अग्नि-परीक्षा में [illegible] किसी युग की सीमाबद्धता तक [illegible] स्वयं अपने ही युग में ऐसे लेखक स्वयं [illegible]) घृणा तथा अवज्ञा पाने लग जाते हैं। [illegible] प्रतिष्ठा पायी और धन भी पाया; पर स्वयं उसके [illegible] समय-समय पर जैसा मज़ाक उसका उड़ाया, वैसा किसी [illegible] का मृत लेखक का नहीं उड़ाया। कारण [illegible] हैं। शॉ ने कभी जीवन की उथल-पुथल के [illegible] रहा और केवल किनारे पर स्थित रहकर वह जीवन की [illegible] के साथ 'तटस्थ' भाव से खेलता रहा—जीवन संघर्ष के [illegible] व्यक्तियों को वह बच्चे की तरह मुँह चिढ़ाता रहा और कभी प्रमादियों की तरह उन पर व्यंग कसता रहा। शॉ जब प्रतिष्ठा की चोटी पर पहुँचा हुआ था, उसी वक्त मर चुका था—सम्मान की तड़क-भड़क के ऊपर के रंगीन मायावरण के भीतर जिन लोगों की आँखें पैठने की सामर्थ्य रखती हैं, उनसे यह बात छिपी न होगी।

असल बात यह है कि न केवल-मात्र घटनाचक्रों की बहुलता से कोई औपान्यासिक रचना श्रेष्ठ मानी जा सकती है, न घटनाओं के वर्जन, कोरे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और तटस्थ दार्शनिक विवेचन से। घटनाचक्र आलेक्सांद्र डुमा, ओपेनहाइम और एडगर वालेस के उपन्यासों में पूर्ण प्रवेग के साथ पाये जाते हैं; पर कभी किसी साहित्य-विवेचक ने कला-कारों की श्रेणी में उनकी गिनती नहीं की। किन्तु ह्यूगो और डास्टा-एव्स्की के उपन्यासों में घटनाचक्रों की इफ़रात रहते हुए भी वे संसार के सर्वोत्तम औपन्यासिक माने गये। दोनों श्रेणी के लेखकों के बीच इस मूलगत अन्तर का कारण यह है कि पहली श्रेणी के लेखकों ने घटनाचक्रों का उपयोग केवल अपनी कथाओं को दिलचस्प बनाने के लिए किया और दूसरी श्रेणी के लेखकों ने जीवन-संघर्ष की भयंकरता,

[illegible]
[illegible]
[illegible] से उनको अपने कथानक में सन्निविष्ट किया। यदि व्यक्तिगत विद्वेष और विरोधी संस्कारों को कुछ समय के लिए हटाकर इस बात पर तनिक गौर से विचार किया जाय, तो एक भयंकर गलतफहमी हमारे कला-प्रेमियों के मस्तिष्क से दूर हो सकती है।

आधुनिक युग के सच्चे यथार्थवादी कलाकार का पथ 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' (सान पर चढ़े हुए छुरे की पैनी धार के समान तीक्ष्ण और दुर्गम) है। उस पर जीवन के मर्मस्थलों के फोड़ों का आपरेशन करके जीवन को स्वस्थ और सबल बनाने का बहुत महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्व है। आपरेशन में जरा भी चूक हुई नहीं कि रोगी की मृत्यु निश्चित है। आज तक बहुत से नीमहकीमों ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में इस भारी जिम्मेदारी के काम को बेधड़क अपने कातिल हाथों में लेकर साहित्य का जो घोर अहित किया है, उसकी क्षतिपूर्ति होने में अभी कई वर्ष लगेंगे। फिर भी इधर कुछ नये औपन्या-सिकों ने किसी कदर अच्छी 'ट्रेनिंग' प्राप्त करने के बाद इस ओर कदम बढ़ाये हैं और अपनी योग्यता का अच्छा प्रदर्शन किया है। ये शुभ लक्षण हैं।

अन्त में हम अपने कला-प्रेमियों से यह विनम्र प्रार्थना करेंगे कि वे अपने प्रतिरोधी संस्कारों का त्यागकर औपन्यासिक कला के नये आदर्श पर निष्पक्ष और गम्भीर भाव से विवेचन करें। कोई उपन्यास चाहे घटनाचक्रपूर्ण हो, चाहे शान्त और गम्भीर विवेचना से युक्त; चाहे उसमें मार्मिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया हो, चाहे उसे सरल उपाख्यान का रूप दिया गया हो, इन सब बातों से कुछ आता-जाता नहीं। देखना यह होगा कि लेखक की रचना ठोस जीवन के केन्द्र पर स्थित है या नहीं, जीवन के मर्म को छूती है या नहीं और कठोर वास्तविक जीवन संघर्ष के माध्यम से ही रुग्ण जीवन का उपचार सुझाने में समर्थ है या नहीं।

[आ]धुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण—

हिन्दी में शरत्-साहित्य के प्रचार के बाद से इस गलत दार्शनि
सिद्धान्त का प्रचलन हमारे साहित्य-संसार में हो गया है कि 'पाप
घृणा करना चाहिए और पापी से प्रेम।' जैसा कि मैं अपने कि
लेख में कह चुका हूँ, यह मनोवृत्ति केवल शरत्-साहित्य में ही नहीं
जाती, उन्नीसवीं सदी के कई उपन्यासकारों ने भी बहुत-कुछ अंशों
इसे अपनाया है। रूसवालों को सम्भवतः गेटे के 'फौस्ट' और वि
ह्यूगो के 'ले मिजेराब्ल' से इस बात की प्रेरणा मिली। गेटे ने ए
काव्यात्मक नाटक 'फौस्ट' में एक ऐसे घोर अविश्वासी मानव
अवतारणा की है, जो एक सरल-स्वभाव और सरल-हृदय कुमारी ल
को अपनी स्वार्थगत आत्मा के अस्थायी प्रयोग के लिए उसका उस
सतीत्व नष्ट करके 'सभ्य' ढंग से उसकी दुर्गति कर डालता है।
इन दोनों पापियों के प्रति सहानुभूतिशील रहा है। यूरोपियन उपन्या
साहित्य में सबसे पहले विक्टर ह्यूगो ने समाज के पतित चरित्रों के प्र
जनता की समवेदना उभारने का प्रयत्न किया। इस बात से फ्रांस
नीतिनिष्ठ जनता बहुत भड़क उठी। पाठकों को मालूम होना चाहि
कि फ्रांस की जनता सदियों से यूरोप में सबसे अधिक नीतिनिष्ठ र
है, हालांकि फ्रेंच लोगों के सम्बन्ध में कुछ दूसरे ही प्रकार की धार
हमारे देश की शिक्षित तथा अर्द्ध-शिक्षित जनता में फैली हुई है। क्रांति
के पूर्व फ्रांस के राजघराने तथा राज-दरबार से सम्बन्धित समाज
जीवन अवश्य दुर्नीतिपूर्ण रहा है, और उस समाज ने पेरिस के प
विशिष्ट समाज की जनता में रंगीन दुर्नीति का छूत-रोग अवश्य फैला
है; पर फ्रांस की जो वास्तविक जनता है, वह विगत महायुद्ध के संघ
विघर्ष के बाद भी अपेक्षाकृत कट्टर नीति-परायण रही है।) वर्तम
महायुद्ध के प्रारम्भ तक वहाँ के नारी-समाज पर जो कठोर सामाजि
नियंत्रण रहा है, वह अविश्वसनीय होने पर भी सत्य था। ऐसे क
नीतिवादी देश में जब ह्यूगो ने अपने उपन्यास में एक अनाथ वेश्या
हीन लड़की को अपने उपन्यास की प्रधान नायिका बनाया और
दुष्कर्मी तथा डकैती के रंग में रँगे हुए व्यक्ति को प्रधान पात्र के पद
स्थापित किया, तो जनता इस प्रका

विरोधी हो उठी। पर चूँकि ह्यूगो पूर्ण सहृदयता के साथ एक विशेष प्रकार का 'मिशन' लेकर आया था, इसलिए उसकी शक्तिशाली रचना का महत्त्व अधिक समय तक दबाया न जा सका, और शीघ्र ही तमाम देशों में उसका प्रचार हो गया। घटनाचक्रपूर्ण होने पर भी साहित्य-जगत् में इस उपन्यास ने अपनी धाक जमा दी। वास्तव में जितने तिलस्मानी चक्कर इस रचना में वर्त्तमान हैं, उतने बहुत कम उपन्यासों में पाए जायेंगे ; पर यह सब होने पर भी यूरोप के बड़े-बड़े साहित्यिकों पर जो प्रभाव इसका पड़ा, वह आश्चर्यजनक था।

इसका कारण सम्भवतः यह था कि दलितों और पतितों के प्रति सहानुभूति उभाड़ने के उद्देश्य में ह्यूगो की कला बहुत सफल रही। इस सम्बन्ध में उसने अपनी सच्ची ईसाई मनोवृत्ति का प्रमाण दिया। महात्मा ईसा और महात्मा बुद्ध ने पतित स्त्री-पुरुषों (विशेषकर पथभ्रष्टा नारियों) के प्रति उदारता और सहृदयतापूर्ण सम-वेदना का जो पाठ पढ़ाया, वह संसार के धार्मिक इतिहास में सदा, सब युगों में, अमर महिमा की चिर-उज्ज्वल ज्योति से प्रदीप्त रहेगा। कोई घोर नास्तिक-भावापन्न युग भी उक्त दो महानुभावों की आत्माओं से स्फुरित इस अपूर्व और आश्चर्यजनक-करुण-रस-धारा के प्रति अश्रद्धा प्रकट नहीं कर सकेगा। एक व्यभिचारिणी स्त्री पर नैतिक पवित्रता के नाम पर पत्थर फेंकनेवालों के प्रति महात्मा ईसा की यह उक्ति कौन भूल सकता है—'जो स्वयं निष्कलंक और शुद्ध अन्तःकरण वाला हो, वह इस दीन-हीन नारी पर पहला पत्थर फेंके!' महात्मा बुद्ध ने अम्बापाली तथा अन्य वेश्याओं के प्रति जिस उदार-भावना का परिचय दिया, उससे सभी परिचित हैं। पतिता और समाज-बहिष्कृता नारियों को उन्होंने भिक्षुणियों के संघ में निस्संकोच ग्रहण किया। उन्हीं की प्रेरणा से उपगुप्त-जैसे संन्यासी पैदा हुए, जो वासवदत्ता-जैसी भ्रष्टा और पतिता वेश्याओं के प्रति असीम करुणा प्रदर्शित करके उन्हें जीवन के महान आदर्श-पथ से परिचित कराने में समर्थ हुए।

यह सब सही है ; पर इस उच्चाशयपूर्ण, अहम् के ऊपर उठी हुई, सार्वभौमिक करुणा की मनोभावना धीरे-धीरे बौद्ध और ईसाई समाज में समय के साथ-साथ उत्तरोत्तर कैसा विकृत परिवर्तित रूप धारण करती चली गई, धार्मिक तथा नैतिक इतिहासों से परिचित पाठकों के आगे यह बात छिपी नहीं है। ईसाई मठों और बौद्ध संघों में, बाद में संन्यासिनियों और भिक्षुणियों की क्या स्थिति हो गई थी ; 'पापी के

प्रति करुणा' के नाम पर धर्मध्वजियों ने उन्हें कैसी दुर्गति से तिर-स्कार में ढकेल दिया था, इन सब बातों से [illegible] भली-भाँति परिचित हैं।

मानव का यह स्वभाव है कि एक ओर वह [illegible] द्वारा प्रचारित महान आदर्शों की ओर बढ़ने की [illegible] रखता है और दूसरी ओर अपने अहम् के चमत्कारों से [illegible] जाता है कि उनके आदर्शों और महत् सिद्धान्तों [illegible] अहंगत आकांक्षा की परिभावना के मार्ग में [illegible] अधीर हो उठता है। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर [illegible] अपने-आपको ठगता है और दूसरों को भी। [illegible] अहम् की तृप्ति करता हुआ वह भ्रमवश यह विश्वास करने लगता है कि वह महान् मानवीय आदर्श और महाशयता [illegible] है, जब कि वह वास्तव में केवल घृणित और संकीर्ण [illegible] की पूर्ति करता है। इसीलिए जोला के 'नाना' की कोटि के [illegible] संसार में कमी नहीं है, जिनमें 'पापी के प्रति करुणा' के नाम पर लेखकों ने अपनी घोर अहंवादी विकृतियों को काव्यमय रूप देकर [illegible] प्राप्त किया है। केवल इतना ही नहीं, ऐसे लेखकों ने पाप को सुन्दर रंगों से चित्रित करके उसे ऐसा आकर्षक बनाने का [illegible] भी किया है कि पाठक 'पापी के प्रति करुणा' की आड़ में [illegible] पाप को सिर-माथे चढ़ाने के लिए उतावला हो उठता है। गेटे के 'फ़ौस्ट' की नायिका की तरह से मानो प्रत्येक पाठक [illegible] है—'यदि वह पाप था, तो हे भगवान ! वह इतना सुन्दर और मधुर था कि उसका प्रतिरोध करना मेरे लिए असम्भव था।'

अपने प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास 'क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट' में डास्टा-एव्सकी ने अपने नायक से दो हत्याएँ एक साथ करवाई हैं, और वे भी अत्यन्त निर्मम, वीभत्स और पाशविक ढंग से—लकड़ी काटने की एक कुन्द कुल्हाड़ी से कई चोटों के बाद वह दो स्त्रियों को जान से मार डालने में समर्थ होता है। इनमें से एक वृद्धा का केवल यह अपराध था कि वह कंजूस और सूदखोर थी और दूसरी—उसी बुढ़िया की बहन—बहुत ही सीधे स्वभाव की और भेड़ की तरह निरपराध थी। इन दो अनर्थकारी हत्याओं के बावजूद भी परम चतुर और गहरे अनुभवी कलाकार डास्टाएव्सकी ने अपने नायक के चरित्र पर कुछ ऐसे आकर्षक

रंग चढ़ाये हैं, जिनके कारण पाठक के मन में उसके (नायक के) प्रति प्रबल सहानुभूति उमड़ उठती है, और उस घोर मनोविकारग्रस्त, अपराधी मनोवृत्ति के पात्र को वह 'सुपरमैन' (लोकोत्तर मनुष्य) समझने लगता है। हिन्दी में डास्टाएव्सकी के इस जगत्‌विश्रुत जासूसी और निर्मम उपन्यास का अनुवाद 'पवित्र पापी' के नाम से छपा है। इस विचित्र नामकरण के लिए हम अनुवादक को दोषी नहीं ठहरा सकते। असल में डास्टाएव्सकी ने अपनी कला के करामात से अपने उक्त उपन्यास के नायक की मनोविकारिता को ऐसी निपुणता के साथ महिमान्वित किया है कि पाठक यदि उसे दानव के बजाय देवता समझने के भ्रम में पड़ जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इससे स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन लेखकों ने 'पापी के प्रति करुणा' के भाव को किस हद तक 'एक्सप्लायट' किया, जिसके फलस्वरूप दो-दो व्यक्तियों की नृशंस हत्या एक साथ करनेवाला भी व्यक्ति नायक गिना जाने लगा! इसी मनोवृत्ति के विरुद्ध आधुनिकतम औपन्यासिक को युद्ध करना है। आधुनिकतम उपन्यासकार का उद्देश्य स्पष्ट है। आजकल के महत्त्वाकांक्षी, किन्तु मनोविकारग्रस्त, अपनी प्रतिभाशालिता के कारण जनता की आँखों के आगे धोखे का रंगीन जाल फैलाकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के इच्छुक, घोर व्यक्तिवादी और आत्मकामी चरित्रों का पर्दा-फाश करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। उनकी चीर-फाड़ अपने निर्मम, किन्तु सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक, अस्त्र से करके उनका यथार्थ रूप जनता के आगे रखने का भार उसके ऊपर न्यस्त है। उसका ध्रुव विश्वास है कि इसी उपाय से समाज और व्यक्तियों की विकृतियों और जटिलताओं का उपचार हो सकेगा।

यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के कलाकारों का जो दृष्टिकोण रहा, हमारे देश में बीसवीं शताब्दी में उसका आवर्त्तन हुआ। शरच्चन्द्र इस क्षेत्र में अग्रणियों में प्रधान रहे। पापियों के प्रति उनकी करुणा इस कदर उमड़ उठी कि जितने भी चरित्रहीन, निकम्मे, आलसी, 'गुड-फार-नथिंग' पात्र समाज की छाती में घुन की तरह लगे हुए हैं, उसके फेफड़े को क्षय-रोग के कीटाणुओं की तरह छेद रहे हैं, उन सब को महिमान्वित करने की प्रतीज्ञा उन्होंने कर ली। अपने एक सुप्रसिद्ध उपन्यास का नाम ही उन्होंने 'चरित्रहीन' रख दिया; पर उस उपन्यास के वास्तविक अर्थ में चरित्रहीन नायक को अन्त में महत्प्राण, सदा-

दास, आदर्श [illegible] और '[illegible]' सिद्ध करके दिखा दिया ! इस उपन्यास का नायक सतीश शराब पी-पी कर बिगड़ता जीवन बिताता है, अपनी नौकरानी सावित्री से (जो उपन्यास की प्रधान नायिका है) प्रेम करके [illegible] पतन पर ले जाने [illegible] रखता है, और बाद में एक दूसरी लड़की से [illegible] वैवाहिक बन्धन स्वीकार कर लेता है। [illegible] और [illegible] की [illegible] और [illegible] कि [illegible] नहीं होगी। लेखक ने इस रूप में स्वभावतः सावित्री के (अर्थात् नारी-जाति के) 'आत्म-त्याग' की 'महत्ता' दिखानी चाही है; पर [illegible] इस प्रकार से नारी [illegible] और [illegible] है और [illegible] से नारी की [illegible] आदर्श समझने वाले पुरुष-समाज की [illegible] सिद्ध किया है। सावित्री [illegible] कि वह सतीश का [illegible] और उसे [illegible] अपनी [illegible] और अपनी शान्ति के लिए और [illegible] पर [illegible] करके उसने इस बात की पूरी कोशिश की कि सतीश दूसरी लड़की (सरोजिनी) से विवाह कर ले और साथ ही [illegible] से [illegible] (सावित्री से) [illegible]। उसने इस प्रकार से न [illegible] अपनी [illegible] बल्कि सरोजिनी को भी [illegible] और अप्राकृतिक स्थिति में रहने के लिए बाध्य किया। लेखक ने सरोजिनी को इस कदर दास-मनोवृत्ति-परायणा सिद्ध किया है कि वह यह जानते हुए भी कि सतीश दूसरी स्त्री को चाहता है, उसका प्रेम पाने और उसे पति-रूप में वरण करने के लिए विकल हो उठती है। मजा यह कि लेखक ने इन दोनों स्त्रियों को आदर्श-रूप में पाठकों के सामने रखा है ! हमारा स्वतन्त्र नारी-समाज दस-पन्द्रह वर्ष बाद जब इस प्रकार के लेखकों की रचनाओं से परिचित होगा, तो इस बात पर उसके क्षोभ और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा कि नारीत्व के आत्म-सम्मान को इस कदर ठुकराने वाले लेखक भी किसी युग में स्त्री-जाति के 'हिमायती' कहे जाते रहे हैं !

असल में शरत् को भी इसके लिए दोष नहीं दिया जा सकता। युग के दृष्टिकोण ने उन्हें भी भरमा दिया। यह मानना ही पड़ेगा कि वे युग के आदर्श के ऊपर उठ नहीं पाए। यह मूलगत कमी उनके समान

प्रतिभाशाली कलाकार से बहुत खटकती है। नारी के सम्बन्ध में युग का जो आदर्श-अपेक्षाकृत उन्नति प्राप्त कर चुका था, उसे शरत् ने यथारूप स्वीकार कर लिया। पर उससे आगे बढ़ने का या तो उनमें साहस नहीं था, या उस आदर्श से अधिक उन्नत और परिष्कृत रूप की कल्पना कर सकने की क्षमता; उनमें नहीं थी। हाँ, इतना उन्होंने अवश्य किया कि युग के उस दकियानूसी आदर्श के ऊपर कलात्मकता का मुलम्मा चढ़ाकर उसे ऐसे मनोमोहक और आकर्षक रूप से पाठकों के आगे रखा, कि उस इन्द्रजाली रंगीनी की चकाचौंध ने आलोचकों की भेदाभेदमयी दृष्टि ही एकदम गायब कर दी!

आज हमको घोर आश्चर्य होता है, जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि शरत् ने अपनी कलात्मकता की जादूगरी से हम लोगों को इस कदर अन्धा बना दिया था कि घोर-से-घोर प्रतिक्रियावादी पौराणिक आदर्शों पर प्रगति का चटकीला रंग (केवल रंग—और कुछ नहीं) चढ़ाकर हम लोगों से यह मनवा लिया कि शरत् प्रगतिशील लेखक हैं! सँपेरे के रूप में एक घोर असभ्य, उजड्ड, जंगली और खूनी दानव का पतित्व अन्त तक स्वीकार करने के कारण शरत् ने अन्नदा दीदी के जिस सतीत्व और नारीत्व की महिमा आवेशपूर्ण शब्दों में गाई है, वह उस 'आदर्श' से किसी अंश में अधिक प्रगतिशील नहीं है, जिसे पुराणकर्ता कोढ़ी, विकलांग और घृणित कामुकता से ताड़ित पति को अपने कन्धे पर रखकर वेश्या के यहाँ पहुँचा आनेवाली 'सती-शिरोमणि' के सम्बन्ध में प्रतिपादित कर चुके हैं। नारी जाति के लिए इससे अधिक हीनता, इससे अधिक गैरत की बात दूसरी कोई हो नहीं सकती।

मैं भली भाँति जानता हूँ कि मेरी इस प्रकार की सम्मति पढ़कर लोग तरह-तरह के अपवाद मुझ पर आरोपित करेंगे। कोई मुझे 'कुतर्की' कहेगा और कोई 'बना हुआ प्रगतिवादी'। मैं इन सब आरोपों को सिर-माथे रखने के लिये तैयार हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि हमारे समाज का दृष्टिकोण बदलने में अभी समय लगेगा, और जब तक दृष्टिकोण बदलने के आभास नहीं दिखाई देते, तब तक तरह-तरह की गलतफहमियाँ मेरे सम्बन्ध में प्रचारित होती रहेंगी। पर मुझे पूरा विश्वास है कि वह दिन अब अधिक दूर नहीं है, जब नारी के ही दृष्टिकोण से विचार करने की लहर सारे संसार में पूरे प्रवेग से उथल

रहेगी—विशेषकर हमारे देश में। जब [illegible]
पढ़ने पर भी हमें मालूम [illegible]
हुआ कि आधुनिक युग में नारी की [illegible]
आधुनिक भारत में ऐसा जीवन [illegible]
आज तक किसी युग में नहीं देखा गया [illegible]
देश में श्रेणियों और वर्गों पर [illegible]
तथा नीति के नाम पर जैसे मानसिक, [illegible]
आज तो आदि पर [illegible]
मिलना कठिन है। [illegible]
उसी प्रकार परिवर्तनों में होगा। [illegible]
[illegible]
समाज अनुकूल और [illegible]
निर्माण होगा। पुरुषों [illegible]
हमारे यहाँ के आरम्भ भारतीय नारी की आवश्यकता [illegible]
पुरुषों और [illegible] मनोवृत्तियों से [illegible] हुई है। पूर्ण सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद यह नैतिक ज्ञान की [illegible] नारी की अपेक्षा भी अधिक सुनीति-परायण और सुसंस्कृत हो उठेगी। अन्त में पुरुषों शताब्दियों से स्त्री-जाति दासता-जनित जड़ता [illegible] से छुटकारा पाकर, अपने दाम्पत्य और पारिवारिक जीवन की दुर्नीति से मुक्त होकर, सच्चे अर्थों में शुद्ध, स्वस्थ और परिष्कृत नैतिक जीवन बिताने के लिए ज्ञान से या अज्ञान में छटपटाती रहती है। यह [illegible] ही इस बात की भी पूरी संभावना है कि नारी की इस स्वस्थ और सरल नैतिकता को आत्मसात् [illegible] संस्कारों से [illegible], [illegible]-मनोवृत्ति-सम्पन्न पुरुष-समाज निश्चय ही 'दुर्नीतिपरायण' बतायेगा, क्योंकि उस तुलना में नारी का जीवन उसे सहज-सुलभ नहीं हो सकेगा!

कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि नारी की समस्याओं पर नारी की ही भीतरी आत्मा के दृष्टिकोण से विचार करने की प्रवृत्ति पिछले युग तक (कुछ नगण्य अपवादों को छोड़कर) संसार के किसी भी कलाकार में नहीं पाई गई है। संभव है कि शरत् भी इस सम्बन्ध में अपवाद-स्वरूप सिद्ध न हो सकें। हम पहले ही कह चुके हैं कि उन्होंने अपनी कलात्मकता के जादू से अपने नारी-चरित्रों के ऊपर ऐसा अलौकिक मुलम्मा चढ़ाया है, जिससे वे सब स्त्री-पात्र

बहुत ही उन्नत और युग की विकृतियों से ऊपर उठे हुए-से मालूम होते हैं ; पर सतह के नीचे दृष्टि डालने वाले किसी भी पारखी से असलियत छिपी नहीं रह सकती। यह हम मानते हैं कि शरत् के घोर व्यक्तिवादी, आत्मगत और निकम्मे पुरुष-पात्रों की तुलना में उनके स्त्री-पात्र बहुत उन्नत, महत् और संयत हैं ; पर उनकी उस महत्ता में शरत् का कोई हाथ नहीं है। शरत् ने उन्हें चुना ही ऐसी कोटियों से है कि सहस्रों अवमाननाओं के बाद भी महत्ता का कुछ-न-कुछ अंश उनमें शेष रह ही जाता है। इसमें शरत् की कोई बड़ाई नहीं है। उन्होंने तो अपनी ओर से अपने कथा-जगत् की नारियों को ऐसी परिस्थितियों में डाला है कि लाख छटपटाने पर भी अन्त में प्रायः उन सबको अहंवादी, आवारा, उच्छृंखल अथवा रोमान्टिक पुरुषों का दासत्व स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा है। अन्नदा दीदी चाहे कैसी ही 'तेजस्विनी' क्यों न रही हो, उसे अपने नृशंस, लम्पट और धूर्त पतिके साथ विधर्मी बन कर बद्दुओं का जीवन बिताकर उसी की सेवा में अपने तन, मन और यौवन को अर्पित कर देना पड़ता है। पार्वती को देवदास द्वारा ठुकराए जाने पर एक निर्जीव और निःसत्त्व वृद्ध का पत्नीत्व स्वीकार करना पड़ता है, और लेखक की मौज का अनुसरण करते हुए उसी स्वेच्छाचारी, चरित्रहीन और नैतिक बल से एकदम रहित मृत नायक के चरणों पर लोटना पड़ता है। यह समझना भ्रम है कि उस पापी नायक के प्रति करुणा के खयाल से पार्वती उसके मरने का समाचार पाकर उसके पैरों पर लोटने का इरादा करते हुए मूर्छित होकर गिर पड़ी थी। असल में इस एक घटना से लेखक ने यह दिखाना चाहा है कि अपने वृद्ध पति के साथ रहकर समाज और परिवार के कामों को प्रतिदिन नियमित रूप से निभाते रहने पर भी पार्वती उस शराबी, वेश्यागामी और दुर्बल-चरित्र नायक के मानसिक भजन में ही अपना जीवन बिताती रही। और तारीफ की बात यह कि लेखक के संकेतानुसार केवल इसी कारण वह आदर्श नारी थी। 'देवदास' के चरम अहंभावापन्न, परम रुग्ण मनोवृत्ति वाले नायक के प्रति लेखक का इतना अधिक पक्षपात है कि वह एक नहीं, दो-दो नारियों (पार्वती और चन्द्रमुखी) को उसके प्रति मर-मिटने को बाध्य करता है; पर उसे (नायक को) वह देवता की तरह झुकने नहीं देता। वास्तव में शरत् ने इस पतित और नारकीय जीव को (जो अन्त तक अपना उद्धार करने में समर्थ नहीं होता) देवता के समान ही ऊँचा उठाना

चाहा है। उसने पार्वती के मुँह से उसे 'देवता' कहलाया भी है। चन्द्रमुखी एक दिन जब इस घनघोर शराबी को कुछ क्षणिक अवकाश के लिये होश में पाती है, तो जिन आवेशपूर्ण शब्दों में वह देवदास की स्तुति करती है, उन्हें लेखक का निजी मत समझना चाहिए। चन्द्रमुखी के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लेखक देवदास के पतन को कितना महान् मानता है। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि पतन के लिए ही वह देवदास को महान् मानता है। लेखक की यह मनोवृत्ति विचित्र होने पर भी उसका विश्लेषण बड़ी आसानी से हो सकता है, यदि हम कुछ समय के लिए शरत् के प्रति अन्ध-भक्ति-भाव भूलकर स्थिर भाव से विचार करें और आँखों पर से नारी के सम्बन्ध में पिछले युगों के विकृत आदर्श का रंगीन चश्मा उतार कर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें।

शरत् की नारियों के सम्बन्ध में बंगाली आलोचकों ने कहा है कि वे सब अपने युग की संकीर्ण भावना के प्रति विद्रोहिणी रही हैं। इससे गलत बात दूसरी हो ही नहीं सकती। वास्तव में शरत् ने युग के आदर्श से आगे अपने स्त्री पात्रों को बढ़ाया ही नहीं। अन्नदा दीदी के घोर पुराणकालीन आदर्श का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पार्वती को युगादर्श से विद्रोह न कर सकने के कारण निर्जीव वृद्ध पति के साथ विवाहित जीवन बिता कर सन्तोष करना पड़ा। सावित्री चरित्रहीन नायक को सब कुछ समर्पित करने पर भी उसके साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध केवल इसलिए स्थापित न कर पाई कि वह विधवा है। किरणमयी का भी यही हाल रहा। और भी बहुत से स्त्री-पात्रों के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। श्री कान्त की अभया इस सम्बन्ध में अपवाद अवश्य है; पर इस अपवाद को नियम बनाने की शरत् में न तो रुचि ही थी, न साहस। वे युग की नीति के धर्मध्वजी ठेकेदारों के विरोधी बन कर जनता की आँखों में अप्रिय नहीं बनना चाहते थे। फल यह हुआ कि उन्हें अपने उन्नति-गामी नारी-पात्रों के सच्चे अर्थों में प्रगतिशील आदर्शपथ को इस कदर संकीर्ण और संकुचित बनना पड़ा कि उसमें उन सब का दम ही घुट गया।

जो बात शरत् के स्त्री-पात्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, वही उनके पुरुष-पात्रों के विषय में भी लागू होती है। उनका एक भी नायक युग के शासन के प्रति विद्रोह न हो सका; भले ही किसी-किसी पात्र ने

विद्रोह का स्वांग रच लिया हो। श्रीकान्त विद्रोह की क्षमता न रखने के कारण अपनी वेश्या-प्रेमिका को अन्त तक त्रिशंकु की तरह अधर में लटकाये रहा। देवदास भी इसी कारण न पार्वती के साथ विवाहित सम्बन्ध स्थापित कर पाया, न चन्द्रमुखी के साथ। 'चरित्रहीन' के नायक को भी इसी कारण सरोजनी से विवाह करके सन्तुष्ट रह जाना पड़ा।

यदि अपने उन सब नायकों और नायिकाओं को शरत् ने प्रकट रूप में या संकेत द्वारा आदर्श-रूप न माना होता, तो हमें उस बात की कोई शिकायत न रहती कि उनमें परम्परा के साथ विद्रोह करने की चारित्रिक दृढ़ता नहीं रही। एक यथार्थवादी कलाकार का आधा कर्त्तव्य (पूरा नहीं) अपने पात्रों का (चाहे वे चरित्रवान हों या चरित्रहीन) यथार्थ चित्रण कर चुकने पर समाप्त हो जाता है। पर शरत् ने अपने मनोविकारग्रस्त और आत्मपरायण पात्रों को आदर्श-रूप माना है और उनके प्रति अपना आन्तरिक पक्षपात बताया है। देवदास और 'चरित्रहीन' के सतीश पर संकेत-रूप से उन्होंने आदर्श नायकत्व आरोपित किया है और श्रीकान्त के मस्तक पर खुले तौर पर आदर्शवादी का पट्टा लिख दिया है। देवदास और सतीश के सम्बन्ध में हम काफी कह चुके हैं। 'आदर्शवादी' श्रीकान्त के सम्बन्ध में इतना कह देना यथेष्ट होगा कि वह अपनी वेश्या-प्रेमिका की कमाई पर मौज करता फिरता है। समय समय पर उससे रुपया लेता रहता है, और जब-जब उसके यहाँ रहता है, तो राजसी ठाट का जीवन बिताता है। और मजाक यह है कि वह समय-समय पर अपनी इस वेश्या-प्रेमिका (राजलक्ष्मी उर्फ 'प्यारी') को वेश्या-जीवन के विरुद्ध लेक्चर पिलाता रहता है। श्रीकान्त वास्तव में एक परोपजीवी (दूसरों की जीविका पर निर्वाह करने वाला), निकम्मा, आत्मलीन, अपने अज्ञात में दूसरों को (और खास कर स्त्रियों को) नीची निगाह से देखने वाला, घोर असामाजिक नायक है। यही कारण है कि वह राजलक्ष्मी को कभी छोड़ भी न सका और कभी स्वीकार भी न कर सका—पुरुषार्थ हीन व्यक्तियों की तरह उसे आजीवन एक अनोखी परिस्थति में भरमाए रहा और और स्वयं भी भटकता रहा। और बीच-बीच में अपने मर्मभेदी सूक्ष्म व्यंगों से उसका हृदय छेदता रहा। बात यह थी कि श्रीकान्त शरत् की तरह युग के साथ चलना चाहता था। संकीर्ण युग-भावना के प्रति विद्रोह करके एक वेश्या के साथ विवाह करने का साहस नहीं रखता था, सिद्धान्त रूप

से भले ही वह 'वेश्या के भीतर स्थित देवत्व' की बातें करता रहा हो। इस पलायन वृत्ति से ग्रस्त, चरित्र-बल से हीन, रोमांटिक और आवारा पात्र को आदर्श-रूप मान कर ही शरत् ने अपने उपन्यास का नायक बनाया है। पर हम नई मनोविश्लेषिक एक्स-किरणों द्वारा उसके चरित्र का स्तर-प्रति-स्तर देखने पर, गाँठ-प्रति-गाँठ खोलने पर, उसे किसी भी हालत में आदर्श मानने को तैयार नहीं हैं। यदि शरत् ने इस नायक के चरित्र के ऊपरी मायावरण के भीतर छिपी हुई हीनताओं का यथार्थ विश्लेषण किया होता और उपन्यास के अन्य सब पात्रों के ऊपर उठा हुआ और अपनी हीनताओं के प्रति उपेक्षा करके दूसरों के छिद्रों पर बेधड़क राय कायम करने वाला लोकोत्तर समीक्षक सिद्ध न किया होता, तो उनका यह उपन्यास नई कसौटी पर खरा उतरता। पर उनके युग तक किसी उपन्यास या नाटक के नायक की हीनताओं पर प्रकाश डालने की परिपाटी ही नहीं थी। परिपाटी यह थी कि नायक को हर हालत में श्रेष्ठ और आदर्श-स्वरूप चित्रित किया जाय; और यदि यत्र-तत्र उसकी कुछ त्रुटियाँ दिखाई जायँ (जैसे कि 'देवदास' में), तो केवल इस उद्देश्य से कि उनसे पाठकों की सहानुभूति उसके प्रति और अधिक उमड़ उठे और उसकी मानवता के 'हाड़-मांस के शरीर' के भीतर छिपा हुआ 'देवत्व' और अधिक परिस्फुट हो उठे। चरित-नायक के प्रति (चाहे उसकी गलित आत्मा की असामाजिक—'रोमांटिक'—प्रवृत्ति समाज के लिये कैसी ही घातक क्यों न हो), हर हालत में सहानुभूति उकसाने की इस परिपाटी ने आज तक समाज की कितनी बड़ी हानि की है, इस बात को ठण्डे मस्तिष्क तथा सच्चे यथार्थवादी दृष्टिकोण से सोचने और परखने का समय अब आ गया है। यही कारण है कि आधुनिकतम युग का सच्चा यथार्थ—आदर्शवादी कलाकार इस दीर्घ कालव्यापी भ्रान्ति की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता। उसके पास मनोविश्लेषिक एक्स-किरणों का जो नया साधन है, वह पिछले युग के, ऊपरी सतह के, मनोवैज्ञानिकों को सुलभ नहीं था; वह मानव-मन के अनगिनत स्तरों को खोलकर उसके अन्तरतम प्रदेश का यथार्थ रूप सबके सामने रखना चाहता है और उस अन्तरतम प्रदेश के रुग्ण स्थलों का मूलगत उपचार सुझाना चाहता है। वह अपने नायकों को आदर्श-स्वरूप चित्रित करने का ढोंग रचना पसन्द नहीं करता। उसके नायक अधिकतर ऐसे होते हैं, जो वास्तव में शरत् या डास्टाएव्सकी या पिछले युगों के अन्य किसी श्रेष्ठ औपन्यासिक

के नायकों से किसी भी अंश में हीन नहीं होते। यदि शरत् आदि पूर्ववर्ती कलाकारों में से कोई भी आधुनिकतम औपान्यासिक के किसी नायक का चरित्र चित्रण करने बैठता, तो निश्चय ही उसे श्रीकान्त से भी कई गुना अधिक श्रेष्ठ और आदर्श-स्वरूप सिद्ध कर दिखाता। पर चूँकि आज सच्चा यथार्थ + आदर्शवादी कलाकार इस प्रकार के घोर व्यक्तिवादी और आत्मलीन नायकों के ढोंग-भरे 'आदर्श' की पोल से भलीभाँति परिचित रहता है, इसलिए वह उनके सम्बन्ध में पाठकों को धोखे में न रखकर पर्दे की ओट में छिपी हुई उनकी मूल प्रकृति की हीनताओं का सच्चा चित्र अत्यन्त निर्ममता के साथ दिखा देता है—पापी के प्रति करुणा के नाम पर उसकी रोमांटिक पाप-प्रवृत्तियों का झूठा काव्यात्मक रूप भड़कीले रंगों में चित्रित कर वह उस समाज-घाती मनोवृत्ति को छूत की बीमारी की तरह फैलाता नहीं। शरत् के पूर्वोक्त पात्र गोर्की के उन आवारा चरित्रों की तरह हैं, जिनका वर्णन उसने अपने संस्मरणों में किया है। समाज के अत्याचार की शिकायत करने के आदी ये आवारे स्वार्थगत, आत्मलीन, घमंडी और अपने विकारग्रस्त मन के विचित्र दृष्टिकोण के कारण समाज-विद्वेषी हैं। गोर्की ने उन्हें सहानुभूति की दृष्टि से देखा है, सन्देह नहीं (क्योंकि पापी के प्रति करुणा की भावना से उसका हृदय भी किसी हद तक लाचार था), पर उसे यह मानना पड़ा है कि उनके पतन का मूल कारण यह था कि वे समाज के साथ सामंजस्य स्थापित न कर पाए। शरत् के पात्रों के सम्बन्ध में कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि चूँकि वे उनकी संकीर्ण भावनाओं और सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध न कर सके, इसलिए वे सामाजिक प्राणी थे। पर इस सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य विरोधाभासात्मक है। परम्परागत संकीर्ण आदर्शों और सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति विद्रोही होने का साहस जिसे नहीं होता, वह असामाजिक होता है। ऐसा प्राणी समाज के भीतर रहने पर भी चोर या भिक्षु की तरह अपने चित्त में अलग रहता है। असल में 'समाज' और 'सामाजिक कुप्रथाएँ' दो बिल्कुल मूलगत भिन्न चीजें हैं। 'सामाजिक कुप्रथाएँ' समष्टिगत मानव-मन के परम्परागत अन्ध-संस्कारों से उत्पन्न मकड़ी के जाले हैं, जिनकी उत्पत्ति मकान के मूल आधारों से न होकर ऊपरी कारणों से होती है। उनकी सफाई करने के बाद ही मनुष्य अधिक आन्तरिकता से उस मकान (समाज) को अपना सकता है।

शरत् के घोर अहंभावापन्न और चरम व्यक्तिवादी पात्रों के निकम्मेपन और पलायनोन्मुखता के लिए आलोचकगण अक्सर समाज को दोषी ठहराते हैं। स्वयं शरत् ने आलोचकों को इस मत के लिए प्रेरित किया है। पर वास्तव में यह दृष्टिकोण घोर भ्रामक है। समाज* कभी व्यक्तियों को असामाजिक बनने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। वह तो अपने माध्याकर्षण से समस्त विशृंखलित व्यक्तियों को अपने केन्द्र की ओर खींचने और एक समष्टिगत सामंजस्य के सूत्र में बाँधने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। यह प्राकृतिक नियम है। पर समाज में कुछ प्राणी धूमकेतु की तरह भी होते हैं, जो सूर्य के माध्याकर्षण के केन्द्र से च्युत होकर उसके ग्रहों और उपग्रहों से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़कर एक निराले ही एकाकी पथ पर भटकना पसन्द करते हैं। समाज-रूपी सौर-जगत के ये धूमकेतु समाज के ग्रहों तथा उपग्रहों को बड़ी नीची निगाह से देखते हैं और अपने को ईश्वर की सृष्टि की एक विशिष्ट, असाधारण तथा निराली रचना समझकर चिर-जीवन अपने 'एकाकीपन' का भार लिये फिरते हैं। समाज जब पूरी चेष्टा करने पर भी उन्हें अपने केन्द्र की ओर खींचने में असमर्थ रहता है, तो स्वभावतः उनके प्रति उदासीनता का रुख अख्तियार कर लेता है। इस बात से वे 'असामान्य प्रतिभाशाली प्राणी' (जैसा कि वे अपने को समझते हैं) और अधिक असन्तुष्ट हो उठते हैं, और भीतर ही भीतर बुरी तरह कुढ़कुढ़ाने और खीझने लगते हैं। असल में ये 'आवश्यकतातीत' (सुपरफ्लुअस) प्राणी चाहते यह हैं कि समाज उनकी असामान्यता और प्रतिभाशालिता का कायल होकर उनकी प्रत्येक इच्छा (चाहे वह कैसी ही अनोखी और बेतुकी क्यों न हो) की पूर्ति करता चला जाय; और इसी से अपने को धन्य समझ कर बदले में कुछ भी न चाहे। पर चूँकि प्रकृति का नियम ऐसा नहीं है—वह किसी व्यक्ति की एकान्त स्वार्थाकांक्षा का भीषण विरोध करती है और नहीं चाहती कि कोई भी व्यक्ति समाज के केन्द्र से छिन्न होकर उससे सब प्रकार के सम्बन्ध तोड़कर समाज के ठोस सामूहिक संगठन में किसी प्रकार का विघ्न खड़ा करे—इसलिए पूर्वोक्त प्रकार के आत्मगत और अहम्मन्य

---

* इस लेख में 'समाज' शब्द एक विशिष्ट नैतिक, मनोवैज्ञानिक अर्थ में व्यवहृत हुआ है।—लेखक

आप कुछ भी नहीं पायँगे। कारण यह है कि हम लोग स्वयं नहीं जानते कि कोई रचना हमें क्यों पसन्द या नापसन्द है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, हमारे पास भेदाभेदमयी दृष्टि नहीं है। जब हम 'आधुनिकतम' उपन्यासों को गिनाने लगते हैं, तो सब नई रचनाओं को एक ही लाठी से हाँकना शुरू कर देते हैं। यह निरखने की समझ हममें नहीं है कि कौन रचना दमित 'सेक्स' की प्रतिक्रिया का उद्गार मात्र है और किस रचना में उस प्रतिक्रिया का विश्लेषण करके उसकी हीनताओं से ऊपर उठने का पथ और उपचार सुझाया गया है। चूँकि दोनों श्रेणियों की रचनाएँ 'सेक्स' से सम्बधित हैं, इसलिए दोनों को एक ही खाने में डालते हुए हमें तनिक भी हिचक नहीं मालूम होती—भले ही उन दोनों के दृष्टिकोणों में एक दूसरे से मूलगत विरोध वर्त्तमान हो।

पर नई पीढ़ी को आप इस तरह की अस्पष्ट, छायात्मक, विश्लेषण रहित और भेदाभेद-ज्ञान से शून्य लच्छेदार बातों से धोखे में नहीं डाल सकते। नई पीढ़ी के तरुण पारखी काव्यात्मक भाषा के इन्द्रजाली फेर में पड़ने वाले जीव न होंगे। वे न तो विशुद्ध भावुकता में बहने वाले होंगे, न जीवन की यथार्थता से रहित कोरे बौद्धिक तर्क-जाल में फँसने या उलझने वाले। वे जीवन के रासायनिक विश्लेषण का पूर्ण ज्ञान लेकर बड़ी बारीकी से प्रत्येक कला-कृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा, अस्पष्ट से अस्पष्ट रंग और गुप्त से गुप्त तत्वों को एक एक करके खोज निकालेंगे। नवाविष्कृत, मनोविश्लेषिक एक्स-किरणों का जो साधन उन्हें सुलभ हुआ है, उसके साधन से और सहस्रों वर्षों के दीर्घ और कड़वे अनुभवों के बाद स्वस्थ जीवन के सम्बन्ध में जो नया दृष्टिकोण मानवता को प्राप्त हुआ है, उसकी सहायता से कलात्मक रचनाओं का जो विश्लेषण वे करेंगे और उनमें से प्रत्येक का जो मूल्य वे निर्धारित करेंगे, उसे यथारूप स्वीकार करने को हमें बाध्य होना पड़ेगा।

इस समय हम आधुनिकतम उपन्यास और उपन्यासकार की जैसी भी छीछालेदर करना चाहें, कर सकते हैं। उसका मजाक उड़ावें, उस पर व्यंग पर व्यंग कसते चले जावें—उसे रहस्य-रोमाँचवादी, तिलस्म-प्रिय या भ्रष्टता का पुजारी कहें, पर वह इन सब बातों से अपने कर्त्तव्य-पथ से नहीं डिगेगा। कारण यह है कि उसके आगे अपना लक्ष्य स्पष्ट है। वह जानता है कि वह किस ओर जा रहा है और क्यों

[illegible]

[illegible]

आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान

हिन्दी में हम पहले-पहल सूरदास और तुलसीदास की कृतियों में मनोवैज्ञानिकता का आभास पाते हैं। पर ये दोनों कवि बहुत से दृष्टि-कोणों से महान् रचयिता होते हुए भी गहरे स्तर के मनोवैज्ञानिक चमत्कार नहीं दिखा पाये। फिर भी जिस मध्यम स्तर की मनोवैज्ञा-निकता का निदर्शन उन्होंने किया है वह उस युग की बौद्धिक जड़ता को देखते हुए कम प्रशंसनीय नहीं है। उस जड़ मध्य युग में उन्होंने मानव-मनोद्वेगों के जिस ज्ञान का परिचय दिया वह उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन कथाकारों की अपेक्षा अधिक उन्नत था, आधुनिक युग में शरत्चन्द्र का मनोविज्ञान भी उनके आगे कहीं ठहर नहीं पाता। सूर-दास ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल से आरंभ करके उनकी परिणत यौवनावस्था तक की प्रेम-लीला का जो भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है, वह इतना हृदयग्राही और मार्मिक है कि उसे देखते हुए शरत्चन्द्र की सारी विशेषताएँ फीकी जँचने लगती हैं। तुलसीदास ने रामचरित-मानस के अयोध्याकाण्ड में मानव के स्वार्थ और परामार्थ, प्रेम और घृणा तथा अन्तरात्मा की परस्पर विरोधी उलझनों के संघर्ष और विघर्ष का जो मार्मिक और विस्फोटात्मक वर्णन किया है (जिसकी चरम परिणति भरत के चरित्र-चित्रण में हुई है) वह मध्यम-युग में शेक्सपीयर और उन्नीसवीं सदी में डास्टाएव्सकी के मनोवैज्ञानिक संधान विधातात्मक चित्रण से किसी अंश में भी न्यून नहीं है, बल्कि अधिक उन्नत है—इसलिये कि उसका ध्येय उनकी तुलना में अधिक कल्याणकारी है।

सूरदास और तुलसीदास के बाद रीतिकालीन कवियों के मानव-मन के एक दम ऊपरी स्तर की छिछली रागात्मक प्रवृत्तियों के सारहीन स्वरूप का वर्णन किया और उसी में उनकी शब्दजाल-पूर्ण कविता-कला की सारी चातुरी समाप्त हो गई। द्विवेदी-युग में अन्तरविज्ञान के क्षेत्र में कवियों और लेखकों का जैसे दिवाला ही निकल गया।

छायावाद के युग में अन्तरवैज्ञानिकता की ओर कवियों का झुकाव फिर से दिखाई दिया। पर इस युग में मानव की अन्तर्प्रवृत्तियों के निर-पेक्ष विवेचन और विश्लेपण के बजाय कवियों ने अपने मन के उद्वेगों का मुक्त उद्गार ही अधिक व्यक्त किया। पर छायावाद युग की कवि-

ताओं का मनोविज्ञान अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। इधर कुछ नवीन कवियों ने अपनी अति-प्रकृत (Surrealist) कविताओं में जिस गहरी कोटि की मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है वह वास्तव में हिन्दी कविता के बहुत उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करता है, हाल में अज्ञेय जी ने तारसप्तक नाम से एक कुछ नवीन कवियों की कविताओं का संकलन प्रकाशित कराया है। जिसमें स्वयं उनकी भी सुन्दर और महान मनोवैज्ञानिक कवितायें हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग के मध्याह्न-काल में प्रेमचन्दजी का आविर्भाव हुआ। प्रेमचन्द जी ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया; पर असल में जिस स्तर में मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे वह यों भी अत्यन्त छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूने वाला था, तिस पर वह ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाए। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव-जगत् के बाह्य संघर्षों से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन में इस हद तक उलझे हुए थे कि अन्तसंघर्षों की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हें नहीं था। उनके समस्त उपन्यासों में अधिकतर बाह्य जीवन के आघात-प्रघातों के ही चित्रण मिलते हैं—अन्तर्प्रवृत्तियों के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत 'मिशन' को लेकर वह चले थे उसे वास्तविक अर्थ में पूरा करने में वह एकदम असफल रहे। क्योंकि वही बाह्य जीवन-चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अन्तर्जीवन चक्र पर आधारित हो, उसी प्रकार अन्तर्जीवन की वही प्रगति श्रेयोन्मुखी हो सकती है जो बाह्य जीवन की प्रगति से निश्चित सम्बन्ध स्थापित किये हुए हो। बाह्य और अन्तर—दोनों जीवनों की प्रगतियाँ एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखती हैं। जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपनाकर दूसरे की अवज्ञा करेगा उसकी एकांगीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में चाहे कैसी ही सफलता क्यों न पाई हो, और किसानों और जमींदारों का संघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शित क्यों न किया हो, इस ध्रुव निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उनके सैकड़ों, बल्कि हजारों स्वपक्षी, स्वयं श्री आलोचक भी छिपा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार-प्रदर्शन में और जीवन के किसी भी मार्मिक सत्य के उद्घाटन में वह पूर्णतया असफल

रहे। हिन्दी में उनके समय तक उपन्यास-साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होंने बहुत बड़े अंश तक उसकी पूर्ति की, इसका श्रेय उनको है, और इसके लिये वह आदरणीय रहे हैं और रहेंगे। पर आज भी, जब कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य लम्बी छलांगें भर कर बहुत आगे बढ़ चुका है, यदि हम लोग कुछ न्यस्त स्वार्थ वाले, गुटों तथा व्यक्तियों का अनुकरण करते हुये उन्हें 'महान् कलाकार' तथा 'उपन्यास-सम्राट' के विशेषणों से विभूषित करते हुए उनमें उन गुणों का आरोप करते चले जावें जो उनमें नहीं थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी; जैसी द्विवेदी-युग के उन आलोचकों की नासमझी छायावादी युग में सब के आगे उपहास-योग्य प्रमाणित हो गई जिन्होंने गुप्तजी की 'भारत-भारती' को काव्य-कला की एक अत्यन्त महान् कृति घोषित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। 'भारत-भारती' में भी प्रेमचन्दजी की रचनाओं की ही तरह भारत की दुर्दशा का वर्णन करते हुए दलित और शोषित वर्ग की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी। पर इस बात से आज सभी एक मत हैं कि यह रचना, कला की किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती और इस कारण हर दृष्टि से वह महत्वहीन है, स्वयं गुप्तजी के आगे यह बात बाद में स्पष्ट हो गई थी, और इसी लिए उन्होंने अपनी बाद की रचनाओं में ('साकेत', यशोधरा' आदि में) मनुष्य के अन्तर्जीवन चक्र की प्रगति की अपेक्षा नहीं की। 'भारत-भारती' को इस समय जो साहित्यिक मूल्य प्राप्त है वही निकट भविष्य में प्रेमचन्दजी की समस्त रचनाओं को मिलना अनिवार्य है, और तब स्वभावतः उन आलोचकों की बुद्धि का भी मूल्यांकन भावी साहित्यिकों के आगे सुस्पष्ट हो जावेगा जो इस समय किन्हीं न्यस्त स्वार्थों से प्रेरित होकर प्रेमचन्दजी को महान् कलाकार सिद्ध करने पर तुले हैं और उनकी आड़ में उन नये उपन्यासकारों की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्त्तव्य समझ बैठे हैं जिन्होंने प्रेमचन्दजी की तरह अन्तर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा नहीं की है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नींव बंकिमचन्द्र ने डाली थी। उनके अधिकांश उपन्यास सर वाल्टर स्काट की रचनाओं की तरह ऐतिहासिक घटना-चक्रों पर आधारित हैं, पर उनके तीन उपन्यास—'रजनी' 'कृष्णकांत उइल' और 'विष वृक्ष'

मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। विशेष कर ... में उन्होंने जिस कोटि के मनोविज्ञान का अवलम्ब ग्रहण किया है ... उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं में ... होता है। अन्तर केवल यह है कि बंकिम ने व्यक्ति के अन्तर्जीवन ... समाज के बाह्य जीवन से संघर्ष दिखाकर दोनों के सामंजस्य का मार्ग निर्देशित किया है और उनके समसामयिक पाश्चात्य लेखकों ने केवल संघर्ष की तीव्रता दिखाकर ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ माना है।

बंकिम के बाद रवीन्द्रनाथ की 'चोखेर बाली' (... की किर-किरी) में सब से पहले मनोविज्ञान आया है जिसकी चरम परिणति रवीन्द्रनाथ ने 'घरे बाहरे' में की है। 'चोखेर बाली' में रवीन्द्रनाथ ने मनोविज्ञान के साथ केवल खेला है। इस उपन्यास में मनोविज्ञान न अपने गहरे रूप में आया है न वह अपनी सार्थकता ही प्रमाणित कर पाया है। पर 'घरे बाहरे' ('घर और बाहर') में ... मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित किये हैं और अन्तर्जीवन के साथ बाह्य जीवन के संघर्ष का चित्रण ऐसी कलात्मक मार्मिकता के साथ किया गया है जो उच्चकोटि की औपन्यासिक कला की प्रधान विशेषता है। पर इस संघर्ष को रवीन्द्रनाथ ने जीवन का एक-मात्र सत्य नहीं माना है। सभी श्रेष्ठ आदर्शवादी कलाकारों की तरह उन्होंने इस संघर्ष के द्वारा जीवन के सामंजस्य का सूत्र पकड़ा है। उन्होंने बाह्य जीवन की उपेक्षा नहीं की है; पर अन्तर्जीवन से रहित जीवन को महत्व देना उनके समान वास्तविक अर्थ में महान कलाकार के लिये असम्भव था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरतचन्द्र ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया। पर शरतचन्द्र अपने मनोविज्ञान में स्वयं उलझ कर रह गए। मनोवैज्ञानिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसका उनमें नितान्त अभाव था। फल यह देखने में आया कि उनके अधिकांश उपन्यासों के जो नायक निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अत्यन्त दुर्बल-चरित्र और समाज-... ठहरते हैं उनके प्रति उन्होंने पूर्ण सहानुभूति प्रतिष्ठित करके उन्हें आदर्श रूप में पाठकों के आगे रखा है। यह कमी रवीन्द्रनाथ में कभी नहीं रही। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि जैसी पैनी रही है वैसी ही ... उनकी बौद्धिक निरपेक्षता भी रही है। यही कारण है कि क्या 'चोखेर

रानी' में और क्या 'घरे बाहरे' में उन्होंने अपने नायकों के चरित्र को आदर्शस्वरूप मान कर चित्रित नहीं किया।

आश्चर्य की बात है कि शरत् का जादू हिन्दी के आलोचकों तथा पाठकों पर व्यापक रूप से छा गया, किन्तु हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार उस जादू के प्रभाव से एकदम मुक्त रहे। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कला का प्रभाव जिस हद तक हमारे कुछ विशेष उपन्यासकारों पर पड़ा उस हद तक हमारे आलोचकों पर नहीं पड़ा। उदाहरण के लिये जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' में रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाहरे' का प्रभाव सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट है। 'घरे-बाहरे' का नायक निखिलेश जिस प्रकार अपनी पत्नी विमला की व्यावहारिक तथा मानसिक गतिविधि के प्रति उदार भाव रखता है और खतरा देखते हुए भी उसे पर्दे से बाहर निकालने में सक्रियता दिखाता है, उसी प्रकार 'सुनीता' का नायक श्रीकान्त भी अपनी पत्नी सुनीता के प्रति अत्यधिक उदार रहता है और उसे घर की तङ्ग चहारदीवारी से बाहर विश्व के मुक्त प्रांगण में स्वच्छन्द विचरने के लिये छोड़ देना चाहता है। जिस प्रकार 'घरे-बाहरे' में क्रान्तिकारी संदीप विमला से घनिष्ठता बढ़ाता है और उसे केवल अपने हृदय की रानी नहीं, बल्कि अपने दल की भी 'मक्खीरानी' बनाना चाहता है और निखिलेश उसमें सहायक होता है, उसी प्रकार 'सुनीता' में क्रान्तिकारी हरिप्रसन्न सुनीता को अपना सब कुछ बनाने की इच्छा रखते हुये भी अपने दल के बीच में भी उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है और सुनीता का पति श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न के बीच की घनिष्ठता में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विमला पतन के गड्ढे में गिरते-गिरते सँभल जाती है, उसी प्रकार सुनीता भी ऐन मौके पर केवल स्वयं सँभल नहीं जाती बल्कि हरिप्रसन्न को भी सँभाल लेती है।

पर यह सब होते हुए भी यदि कोई पाठक 'सुनीता' की मौलिकता में तनिक भी सन्देह करे तो वह अपनी घोर अज्ञता का परिचय देगा वास्तव में जहाँ तक मनोवैज्ञानिकता की बारीकी का प्रश्न है वहाँ जैनेन्द्र जी रवीन्द्रनाथ को भी पीछे छोड़ गए हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गए हैं। इसके अतिरिक्त

रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के। निखिलेश, विमला और संदीप क्रम से श्रीकान्त, सुनीता और हरिप्रसन्न से ऊपरी साम्य रखते हुए भी दोनों पक्ष मन की गुत्थियों, जटिलताओं के रूपों में एक दूसरे से बहुत दूर पड़ जाते हैं। रवीन्द्रनाथ के पात्रों की जटिलता मनोवैज्ञानिक उतनी नहीं है जितनी कि सैद्धांतिक। उनके प्रत्येक पात्र के जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर और निश्चित बने हुए हैं। जैनेन्द्र जी के पात्रों के भी किसी हद तक अपने कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं, पर साथ ही उनके मन की गुत्थियां बहुत ही अधिक उलझी हुई हैं। अपने पात्रों की उन जटिल गुत्थियों को सुलझाने की जो दिक्कत जैनेन्द्र जी को पड़ती है वह रवीन्द्रनाथ को नहीं पड़ती। जैनेन्द्रजी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने उन जटिल गुत्थियों को बड़ी सफाई के साथ सुलझाने की चेष्टा की है और बड़ी हद तक उसमें सफलता पाई है। हरिप्रसन्न जैसे अज्ञेय और गुमसुम व्यक्ति के मन के गहनतम स्थान में दबी पड़ी उलटी-सीधी प्रवृत्तियों की जटिल और कुटिल गाँठों को एक-एक करके खोल कर सुलझे हुये रूप में उन्हें पाठकों के आगे रखना किसी साधारण योग्यता वाले लेखक के बूते की बात नहीं है। यही बात सुनीता के समान जटिल-प्रकृति नारी के रहस्यमय मनोजगत के उद्घाटन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रवीन्द्रनाथ का संदीप extrvert (बहिरोन्मुख) है और जैनेन्द्र जी का हरिप्रसन्न intrvert (अंतरोन्मुख) दोनों में यह मूल्यवान अंतर है। इन सब कारणों से दोनों उपन्यासों में ऊपरी साम्य देखकर पाठकों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

'सुनीता' में जैनेन्द्र जी का वही उद्देश्य रहा है जो किसी भी श्रेष्ठ कलाकार का रहना चाहिये। इनके पात्र अंतर्जगत में अपने विकास का पथ खोजते हैं। दोनों के बीच संघर्ष चलता है और अन्त में दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण कर वे जीवन में सामंजस्य का सूत्र पकड़ने की ओर उन्मुख होते हैं। जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिकता की सार्थकता इसी बात पर है।

उपन्यास-कला में मनोवैज्ञानिकता का एक और उद्देश्य माना जा सकता है—जो प्राचीन ग्रीक पंडित अरस्तू का भी मत रहा है। वह उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना में प्रचंड आतंक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के

क्षालन (और स्वभावतः उन्नतीकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उन्नतीकरण में सहायता पहुँचाता है। जैनेन्द्र जी की 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की निर्मम मनोवैज्ञानिकता इसी कारण सार्थक है, और उनकी उद्देश्य संकीर्णप्राण 'मनोवैज्ञानिक' आलोचक की छिद्रान्वेषी हीन दृष्टि को भले ही समाज-घाती लगे, पर वास्तव में वह कल्याणोन्मुखी है। 'कल्याणी' दरअसल कल्याणी है, पर उसके भीतर निहित कल्याणीयता की खोज के लिये वास्तविक अर्थ में निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और साथ ही स्वस्थ और सबल साहित्यिक सप्राणता होनी चाहिये, नहीं तो क्षीणप्राण छिद्रान्वेषी आलोचक उसमें विनाशऔर वीभत्सता के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पावेगा।

कुछ शुतुरमुर्ग प्रेमी आलोचकों ने आधुनिक मनोविज्ञान के व्याकरण का किंचित ज्ञान प्राप्त कर लिया है और अपने उसी अधूरे व्याकरण ज्ञान से दुर्विदग्ध होकर उन्होंने अपनी संकुचित दृष्टि से जैनेन्द्र जी की मनोवैज्ञानिक रचनाओं की छानबीन की है और उन्हें समाजघाती तथा कल्याणकारी बताया है। मनोविज्ञान के इन अधकचरे फ्रूफरीडरों को इस बात का पता नहीं है कि कोई भी प्रतिभाशाली कलाकार किसी भी मनोविज्ञान स्कूल के व्याकरण का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उलटा मनोविज्ञान उसके गहन जीवन-संबन्धी अनुभवों के अनुसार अपने निर्णयों में सुधार करता रहता है।

जैनेन्द्र जी वास्तविक अर्थों में हिन्दी के प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य की निर्जीव औपन्यासिकता में (जिसमें या तो किसानों तथा जमीदारों के बीच संघर्ष दिखाने वाले निर्जीव कठपुतलों का खेल दिखाया जाता था या काव्य-जगत के अवास्तविक जीवों के 'स्वर्गीय प्रेम' का स्वांग भरा जाता था) सप्राण और अन्तर्संघर्षशील पात्रों की सजीवता भर दी।

जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास क्षेत्र में अज्ञेय जी का नाम लिया जा सकता है। अज्ञेय जी की 'शेखर-एक-जीवनी' दो खंडों में प्रकाशित हुई है। वास्तव में उपन्यास के पारिभाषिक अर्थ में इस रचना को उपन्यास नहीं कहा जा सकता-यह जीवनी, उपन्यास और दर्शन के बीच की कोई चीज है। प्रथमखंड में अक्सर एक-एक, दो-दो पैरा के बाद नया प्रकरण आरम्भ हो जाता है, और अधिकांश स्थलों में

[illegible] प्रकरण अपने आप में [illegible] है और [illegible] में भी छोटे-छोटे [illegible] प्रकरणों के [illegible] कोई स्थान नहीं होने के पश्चात् लेखक ने अपने [illegible] दार्शनिक विचार [illegible] अनुसार प्रकट किए हैं। दूसरे खंड में [illegible] पाई जाती है, पर कतिपय प्रकरणों में वह भी [illegible] गई है।

यह सब होते हुए भी हमने 'शेखर' को [illegible] मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इन कारणों से रखा है—एक तो यह कि [illegible] इस कोटि की मिश्रित रचना का कोई [illegible] नहीं हो जाता तब तक उसे उपन्यास [illegible] होगा; दूसरे [illegible] समग्रता को यदि लिया जाय, तो मालूम होगा कि [illegible] में [illegible] के चरित्र का विकास मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही हुआ है, यद्यपि यह मनोवैज्ञानिकता बीच-बीच में दार्शनिक रूप धारण कर लेती है।

आरम्भ से लेकर अन्त तक शेखर के चरित्र का विकास एक ही मूलगत आधार को लेकर हुआ है—और वह आधार है उसका अत्यन्त गहन, तीव्र, सर्वगामी और सर्वग्रासी अहंभाव। उसके इस गहरी जड़ों वाले अहंभाव को शेखर नामक कलाकार [illegible] रंगों से रंजित और विचित्र दार्शनिक सिद्धान्तों से परिपुष्ट करता चला जाता है। व्यक्ति के अहंभाव के चरम विकास को ही शेखर ने जीवन का एकमात्र उन्नत ध्येय माना है, और सारी पुस्तक को पढ़ जाने के बाद इस सम्बन्ध में सन्देह के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि [illegible] का अपना दृष्टिकोण भी यही है।

प्राचीन युग से लेकर आज तक जितने भी श्रेष्ठ कलाकार या दार्शनिक हुए हैं उन सबने व्यक्ति के अहंभाव के एकाङ्गीय विकास-मूलक साधना को केवल समाजघाती ही नहीं बल्कि आत्मघाती भी बताया है। शेखर की अहंभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिए उन्मुख होती चली गई है वह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। पर इस उपाय से लेखक जिस आदर्श-सम्बन्धी वैपरीत्य को हमारे सामने रखता है वह परोक्ष रूप से—अपने प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से—पाठकों के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है। जो भी हो, 'शेखर' की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक चातुरी महत्वपूर्ण है।

मेरे अपने उपन्यासों में अज्ञेय जी से ठीक उलटा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की एकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी' 'सन्यासी'

[illegible] की रानी' 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित' इन पाँचों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने उस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह वह नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत-कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुटते चले जा रहे हैं—किन्तु विपरीत दिशा में। अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीड़ित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा। यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत्-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि परिस्थिति की वास्तविकता को समझ कर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट गई है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी [illegible] मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है। चूँकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्ति के भीतर बड़े भीषण रूप में चल रहा है, जिस प्रकार बाह्य [illegible] के रूप में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का [illegible], इसलिए उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृत [illegible] मनोवैज्ञानिकता के आधार

पर करना पड़ता है, ऊपरी स्तर पर नजर डालने वाले पाठक उन्हें न समझ पाने के कारण ऊब जायें तो कोई आश्चर्य नहीं । अन्य उपन्यासकारों की चर्चा यहाँ पर चलाना मैं इसलिये व्यर्थ समझता हूँ, कि इनमें से किसी का मनोविज्ञान तो मनोविज्ञान की प्रारंभिक स्थिति-भाव-विज्ञान को भी पार नहीं कर सका है और किसी का मनोविज्ञान इस प्रारंभिक अवस्था को भी नहीं पहुँच पाया है।

हर युग में, हर देश में और हर काल में प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार द्वारा अन्तर्जीवन का सत्य ही प्रधान सत्य माना जायगा । बीच-बीच में कट्टर भौतिकतावादी दार्शनिकों अथवा राजनीतिक क्रांतिकारियों की तूती साहित्य में क्षणिक रूप से बोल उठी है, पर वह अन्तर्जगत् के प्रचंड सत्य की भीषण बाढ़ में बह चली है । एक मात्र वही राजनीतिक सामाजिक अथवा दार्शनिक मतवाद साहित्य के स्थायी जगत में किसी हद तक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, जो अन्तर्जीवन के सत्य के आधार पर बाह्य जीवन की परिचालना और बाह्य जगत की सामाजिक व्यवस्था का पथ निर्देशित कर सकेगा। आज हमारे मार्क्सवादी आलोचक साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्यों का उपहास करने पर तुले हैं, और अपने संगठित साहित्यिक प्रचार कार्य द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिये पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि साहित्य-कलाकार ,मनो-विज्ञान को ताक पर रखकर अंतर्जीवन के सत्यों की पूर्ण उपेक्षा करें और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करें जो बाह्य जीवन-चक्रों के पारस्परिक संघर्ष (श्रेणी-संघर्ष) के रूप में परिस्फुट होते हैं। पर निश्चित रूप से कल उन लोगों को यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक जीवन का सत्य, साहित्य में यथा रूप किसी भी हालत में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। बड़े-से-बड़े राजनीतिक सत्य को पहले वेष बदल कर अंतर्जगत् में प्रवेश करना होगा, तभी वहाँ से वह मनोवैश्लेपिक उपायों से साहित्यिक सत्य के रूप में बाहर प्रस्फुटित हो सकता है। यथार्थवादी दृष्टि रखने वाले रूस ने प्रत्यक्ष अनुभवों के बाद इस परम सत्य को स्वीकार कर लिया है, पर हमारे तथाकथित आलोचक कुछ लकीर के फकीर अंग्रेज मार्क्सवादी आलोचकों का अंध अनुकरण करते हुए हिन्दी की मनोवैज्ञानिक-सम्बन्धी नवीन औपन्यासिक रचनाओं की निन्दा और उपहास करना अपना परम

कर्त्तव्य मान बैठे हैं। पर उनकी यह निराधार चेष्टा निश्चय ही चट्टान पर सिर पटकने के बराबर व्यर्थ सिद्ध होगी।

आज कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास साहित्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है और भारत की अन्य सभी भाषाओं के उपन्यास-साहित्य को इस क्षेत्र में बहुत पीछे छोड़कर आगे निकल गया है। आज वह न पाश्चात्य जगत के किसी मनोवैज्ञानिक स्कूल का आश्रय प्रार्थी रह गया है न रवीन्द्र अथवा शरद की औपन्यासिक रचनाओं के आधार का। आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जीवन के स्वतन्त्र ——ओं के स्वतन्त्र सत्यों को विश्व-साहित्य के प्रांगण में आत्म- —— ——रहा है।

आधुनिक कथा साहित्य का [illegible] विकास और नयी दिशा

अभी हाल में मेरे साहित्यिक मित्र [illegible] और उन्होंने किन्हीं सिलसिले में आधुनिक [illegible] की चर्चा छेड़ दी। मेरे इन मित्र महोदय [illegible] परिष्कृत विद्यार्थीमात्र में [illegible] तथा उनके मित्रों की धारणा है कि [illegible] आज हिन्दी के [illegible] के साहित्यकार [illegible] है, कम नहीं। उन्होंने हिन्दी के उपन्यासों [illegible] स्पष्ट किया और कहा कि अभी तक किसी भी हिन्दी [illegible] ऐसा नायक उन्हें नहीं मिला है जो अपने [illegible] स्वभाव, उन्नत चरित्र और महान व्यक्तित्व [illegible] पूर्णतः बड़ा हो जाय।

मित्र महोदय की इस बात से स्पष्ट हो [illegible] किसी भी औपन्यासिक कृति पर विचार करने [illegible] शोभा और किसी भी जटिलता से रहित हैं। [illegible] सुझाया कि वह जिस प्रकार की विशेषता [illegible] अथवा महाकाव्यों के 'धीरोदात्त' नायकों [illegible] सुधारवादी तथा उपन्यासों के पात्रों से भिन्न [illegible] यथार्थवादी तथा घोर मनोवैज्ञानिक युग [illegible] न्यासिक नायकों में इस तरह की विशेषताओं [illegible] साहित्यिक प्रगति के यथार्थ-सिद्धांतों के विपरीत [illegible] मेरे इस कथन से तनिक भी प्रभावित न [illegible] और [illegible] सप्रेम मुस्कराते हुए चल दिये।

किसी भी उपन्यास के विशेषत्व की [illegible] हमारे पूर्वोक्त मित्र महोदय ने मेरे आगे [illegible] नहीं बल्कि हमारे अधिकांश आलोचकों [illegible] किसी न किसी हद तक और किसी न किसी रूप में [illegible] तथाकथित प्रगतिवादी आलोचकों के [illegible]

हैं, जिनमें 'सुधारवादी' नायक को विशेष महत्व दिया गया है, और जिन उपन्यासों में 'सुधारवादी' तथा 'आदर्श-चरित्र' नायक नहीं लिये गये उसकी घोर निन्दा की गयी है।

आज के घोर संघर्षरत, नाना प्रकार की—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक—उलझनों से संकटाकुल-युग में भी कामना-मूलक कल्पना की मशीन से ठीक तरह कटे-छँटे हुए, साँचे में ढले हुए आदर्शात्मक धीरोदात्त अथवा तथाकथित सुधारवादी नायकों की अवतारणा चाहनेवाले हमारे साहित्यिकों और साहित्यालोचकों का मनोभाव वास्तव में विस्मय में डालने वाला है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा (और अविश्वास भी) कि इस प्रकार का विचार केवल पुराण-पंथी अथवा गतानुगतिक आलोचकों का ही नहीं है, बल्कि प्रगतिवादी दृष्टिकोण रखने वाले बहुत-से साहित्य-पारखी भी इधर कुछ समय से इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए पाये जा रहे हैं। किसी भी उपन्यास में चरित्रहीन नायक की अवतारणा होने का विरोध जितने जोरों से प्रगतिवादी आलोचक कर रहे हैं उतना पुराणपंथी आलोचक भी नहीं कर पा रहे हैं। दुश्चरित्र नायकों के विरोधी इन प्रगतिशील आलोचकों की बातों से जो धारणा मेरे मन में जमी है वह यह है कि चरित्रहीन नायक की अवतारणा के पीछे कलाकार का चाहे कैसा भी महान आदर्शमूलक उद्देश्य क्यों न निहित हो, उसकी रचना भ्रष्ट ही मानी जायगी। इस प्रकार का मत रखने पर भी ये आलोचकगण अपने को प्रगतिवादी दल में क्यों सम्मिलित किये रहते हैं, और दूसरे आलोचक भी उन्हें प्रगतिशील क्यों मानते हैं, यह प्रश्न साहित्य जगत् के सामूहिक मनोविज्ञान के अंतर्गत आता है इसीलिए इस लेख में इस सम्बन्ध में कुछ न कहूँगा। इस लेख में मैं आधुनिक विश्वकथा-साहित्य के क्रमिक विकास के विवेचन द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि किसी उपन्यास में चरित्र हीन नायक की अवतारणा-मात्र कोई अपराध नहीं है, बल्कि वर्तमान युग में सच्ची प्रगतिशीलता की पहली शर्त है, बशर्ते उपन्यासकार उद्देश्य उस चरित्रहीनता को महिमान्वित करने का अथवा चरित्रहीनता को केवल चरित्रहीनता के लिए चित्रित अथवा विश्लेषित करने का नहीं बल्कि दुश्चरित्रता के दुष्ट कीटाणुओं के विश्लेषण और परख द्वारा उन्हें, जड़ से नष्ट करने का हो।

[illegible]

[illegible] अत्यन्त अस्वस्थ मानसिक प्रवृत्तियों वाला रुग्ण-मस्तिष्क यु[illegible] जो सब समय अपने विचित्र, ऐकांतिक भावलोक में डूबा र[illegible] और सारे समाज से घृणा करता हुआ अस्वाभाविक, असंगत असामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अपनी निराली स्वप्न[illegible] की दुनिया में मस्त यह युवक न जाने किस विचित्र और विभ्रांत [illegible] [illegible] संकट [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] प्रतिभा, [illegible] [illegible] [illegible] किया।

है, जिनमें 'सुधारवादी' नायक को विशेष महत्व दिया गया है, और जिन उपन्यासों में 'सुधारवादी' तथा 'आदर्श-चरित्र' नायक नहीं लिये गये उसकी घोर निन्दा की गयी है।

आज के घोर संघर्षरत, नाना प्रकार की—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक—उलझनों से संकटाकुल-युग में भी कामना-मूलक कल्पना की मशीन से ठीक तरह कटे-छँटे हुए, साँचे में ढले हुए आदर्शात्मक धीरोदात्त अथवा तथाकथित सुधारवादी नायकों की अवतारणा चाहनेवाले हमारे साहित्यिकों और साहित्यालोचकों का मनोभाव वास्तव में विस्मय में डालने वाला है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा (और अविश्वास भी) कि इस प्रकार का विचार केवल पुराण-पंथी अथवा गतानुगतिक आलोचकों का ही नहीं है, बल्कि प्रगतिवादी दृष्टिकोण रखने वाले बहुत-से साहित्य-पारखी भी इधर कुछ समय से इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए पाये जा रहे हैं। किसी भी उपन्यास में चरित्रहीन नायक की अवतारणा होने का विरोध जितने जोरों से प्रगतिवादी आलोचक कर रहे हैं उतना पुराणपंथी आलोचक भी नहीं कर पा रहे हैं। दुश्चरित्र नायकों के विरोधी इन प्रगतिशील आलोचकों की बातों से जो धारणा मेरे मन अपने... यह है कि चरित्रहीन नायक की अवतारणा के पीछे है। वह मुग्धा नाय... कैसा भी महान आदर्शमूलक उद्देश्य क्यों न हत्या कर डालती है और जे... ...जायगी। इस प्रकार का अपनी अहंभावापन्न बौद्धिकता के विकास को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानने वाला वह घोर स्वार्थरत नायक (फौस्ट) केवल क्षण-भर के लिये इस घोर 'ट्रैजिक' घटना से विचलित होता है, और उसके बाद अपने 'आत्म-विकास' के पथ पर अग्रसर होता हुआ प्रेम और सौन्दर्य के नये-नये स्रोतों पर आघात करता हुआ रहस्यमय नारी लोक के नये-नये द्वारों को उद्घाटित करता चला जाता है।

गेटे ने 'फौस्ट' (प्रथम भाग) की नायिका के प्रति नाम-मात्र की सहानुभूति उभारी है। इसके विपरीत अपने दुश्चरित्र नायक फौस्ट के प्रति—जो किसी भी कुमारी नारी के प्रेम को केवल अपनी अहंवादी आत्मा की विकासोन्मूलक प्रगति के प्रयोग का एक साधारण साधन-मात्र समझता है, और जो इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर शैतान (मेफिस्टोफिलीज) से जान-बूझकर समझौता करता है—कवि ने

चरित्रहीनता को महिमान्वित करने की बात सुनकर पाठक चौंके नहीं। पिछले युगों के कई प्रमुख पाश्चात्य तथा भारतीय कलाकारों ने ऐसा किया है, और उनकी कला की प्रशंसा मुक्तकंठ से हमारे पुराणपंथी तथा प्रगतिवादी, दोनों श्रेणियों के आलोचकों ने की है। 'पापी के प्रति करुणा' के नाम पर उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी उपन्यासकारों ने ऐसे उत्कट दुश्चरित्र पात्रों को अपने कुशल चित्रण द्वारा गौरव के शिखर पर पहुँचाया जो अपने विकृत मनोभावों के कारण समाज के लिये घातक सिद्ध होते थे। अपनी रुग्ण तथा अस्वस्थ आत्माओं से जिस विष का क्षरण इन पात्रों ने किया है उसे अत्यन्त मधुर तथा मनमोहक रूप देकर रूस के इन प्रतिभाशाली कलाकारों ने समस्त परवर्ती विश्व-साहित्य पर ऐसा व्यापक तथा गहरा प्रभाव छोड़ दिया कि उसका प्रतिरोध करना किसी भी देश के किसी भी कलाकार के लिये कठिन हो गया। टाल्सटाय और दास्ता-एव्सकी इस श्रेणी के रूसी उपन्यासकारों में प्रमुख रहे, विशेषकर डास्टाएव्सकी 'अपराध और दंड' का नायक [illegible] तो पूर्वोक्त श्रेणी के कलाकारों का आदर्श ही बन गया। इस उपन्यास का नायक एक अत्यन्त अस्वस्थ मानसिक प्रवृत्तियों वाला रुग्ण-मस्तिष्क युवक है, जो सब समय अपने विचित्र, ऐकांतिक भावलोक में रमा रहता है, और सारे समाज से घृणा करता हुआ अस्वाभाविक, [illegible] विचित्र असामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अपनी [illegible] तथा अन्तर्लोक की दुनिया में गर्क [illegible] 'शालीनता' का जामा पहनाया है और उस पर 'स्वर्गिकता' का रंग चढ़ाने का भी प्रयत्न किया है, पर उस खोल के भीतर का वास्तविक रूप आज के यथार्थ मनोविश्लेषकों से छिप नहीं सकता। विक्टर ह्यूगो ने भी अपनी कविताओं तथा महत्वपूर्ण उपन्यासों में नर-नारी के प्रेम के जिस 'बूर्ज्वा' दृष्टिकोण को व्यक्त किया है उसके भीतर भी अहंवादी नायकों की आत्म-विलासी मनोवृत्ति का ही जयघोष ध्वनित होता। अपनी नायिकाओं को ह्यूगो ने केवल उसी हद तक महत्त्व दिया है जिस हद तक वे नायकों के अहंभाव के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं। 'ले मिजेरब्ल' में ह्यूगो ने अवश्य समाज द्वारा प्रताड़ित पात्र-पात्रियों के प्रति समवेदनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है, पर उन्नीसवीं शताब्दी के इस 'मानववाद' में कहाँ तक पोल थी, इस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी साहित्य में फ्लोबेर तथा ज़ोला के दृष्टिकोण में हम कुछ विशिष्टता पाते हैं। इन दो उपन्यासकारों ने न तो नर-नारी के रोमांटिक प्रेम की 'स्वर्गिकता' को कोई महत्त्व दिया, और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की भावुकता का ही परिचय दिया, जो उस युग में बहुत सस्ती हो चली थी। इन दोनों ने उस दृष्टिकोण को अपनाया जिसे 'यथार्थवादी' कहा जाता है। बूर्ज्वा युवक-युवतियों के प्रेम-सम्बन्ध के भीतर जितनी भी मानसिक तथा शारीरिक गन्दगी वर्तमान थी उसे छिपाने का कोई प्रयत्न न कर उन्होंने उसकी वास्तविकता का सर्वांगीण चित्रण किया। फ्लोबेर ने अपने विश्वविख्यात उपन्यास 'मादाम बोवारी' में अपने बुद्धिहीन बुर्ज्वा नायक के प्रति (जो संकटपूर्ण परिस्थितियों का सामना करने के बाद डाक्टर बन जाता है) तनिक भी सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की है। डाक्टर बन जाने और एक सुन्दरी स्त्री से विवाह हो जाने पर इस नायक के जीवन की महत्वाकांक्षा समाप्त हो जाती है। वह अपनी पत्नी से प्रसन्न रहता है और भरसक उसकी सभी पार्थिव आकांक्षाओं की पूर्ति करने को उद्यत रहता है। केवल एक चीज वह नहीं दे पाता—देने की योग्यता ही उसमें नहीं है। नारी के अंतर्जीवन की एकांत आकांक्षा—स्थूल यौनःवासना के सूक्ष्म विकास से उत्पन्न रोमांटिक चेतना—की तृप्ति। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अत्यंत आवश्यक इस सहज-स्वाभाविक मानसिक क्षुधा की तृप्ति के लिए वह अनेक अंतर्द्वंद्वों के बाद एक ऐसे व्यक्ति के जाल में फँस जाती है, जो रोमांस का महत्त्व केवल रोमांस के ही लिए मानता है। इस विवाहिता नायिका का वह आत्मकामी प्रेमिक स्वभावतः उसे ऐन मौके पर धोखा देकर भाग जाता है। यह अभिशाप-ग्रस्त बूर्ज्वा नारी (जैसी कि मानव-जाति के दीर्घकालीन इतिहास में प्रत्येक नारी रही है) न तो गृहस्थ-जीवन के सुख को चरितार्थ कर पाती है, न अपने भीतर की सहज रोमांटिक आकांक्षा की पूर्ण तृप्ति का अनुभव। नारी-जीवन की इस सनातन ट्रेजेडी का चित्रण बड़ी ही कुशलता से फ्लोबेर ने किया है। उसने यथार्थदर्शी वैज्ञानिक की दृष्टि से काम लिया है। न तो उसने बुर्ज्वा समाज के गृहस्थ-जीवन से संबंधित जीर्ण आदर्श को कोई महत्व दिया है और न अहंभावापन्न नर-नारियों के रोमांटिक प्रेम की स्वर्गीयता का ही राग अलापा है। बूर्ज्वा समाज के आदर्शों की असफलता का चित्रण उसने सभी पहलुओं से किया है। यही कारण

था कि तत्कालीन बूर्जवा समाज उसका घोर विरोधी हो उठा था और उसकी पुस्तक को 'अश्लीलमूलक' बतला कर उस पर मामला चलाया गया था।

जोला ने भी 'नाना' में, उच्च मध्यवर्गीय समाज के पतित आदर्शों का यथार्थवादी चित्रण ऐसे तीखे निर्मम और मार्मिक विश्लेषण द्वारा किया है जैसा कोई भी मार्क्सवादी लेखक न कभी कर पाया है, न कर सकता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध मार्क्सवादी लेखक एक-मात्र आर्थिक दृष्टिकोण को लेकर और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए प्रत्येक विषय के केवल 'मैटर आफ फैक्ट' पहलू को लेकर चलता है। गहन अंतर्दृष्टि वाला सच्चा कलाकार यथार्थवादी और बुद्धिवादी दृष्टिकोणों को पूर्णतः अपनाते हुए भी प्रत्येक विषय के मार्मिक पहलू को छोड़ नहीं पाता। उसका उद्देश्य चूंकि विशुद्ध प्रचार नहीं बल्कि जीवन का सच्चा दर्शन होता है, इसलिए वह समाज के भीतर की सड़ाँध का जो घोर वीभत्स रूप प्रत्यक्षवत् दर्शन कराने में सफल होता है उसमें विशुद्ध मार्क्सवादी चूक जाता है।

उक्त उपन्यास में जोला ने दिखाया है कि जीवन की अत्यन्त हीन परिस्थितियों में पली हुई एक लड़की एक उच्च कोटि के रंगमंच की गायिका बन कर किस प्रकार आश्चर्यजनक सफलता पा जाती है और फलस्वरूप सामंतवर्गीय तथा उच्च-मध्यवर्गीय समाज के बने हुए 'कलाप्रेमी' धूर्तों को अपने रूप-जाल में फँसा कर कैसे-कैसे नाच नचाती है। अपने यौन-संबंधों में वह उन सबके प्रति 'क्रूरता' बरतती है। अपनी इसी क्रूरता द्वारा उन सबको शैतान-लोक के अंध गह्वर की ओर अधिकाधिक आकर्षित करके पूरी तत्परता के साथ उन्हें उत्तरोत्तर पतन के गह्वर से निम्नतर स्तरों की ओर धकेलती चली जाती है और अन्त में स्वयं भी उनके साथ विनाश के अंध श्मशान में विलीन हो जाती है। जोला ने इस बात की ओर संकेत किया है कि जिस पतित और शोषित वर्ग से नाना उभरी है उसकी ओर से बदला चुकाने के उद्देश्य से ही जैसे उसकी विद्रोही आत्मा उसके अनजान में उससे इस तरह का आचरण करवाती है। आश्चर्य है कि किसी यूरोपियन आलोचक का ध्यान जोला के इस संकेत और इस उद्देश्य की ओर नहीं गया है :

ज़ोला ने अपने इस उपन्यास के नायक के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई है। नारी की अंतरात्मा को पहचानने के लिए अनिच्छुक ढोंग-भरी संस्कृति के पोषक, विकृत मनोवृत्ति वाले बूर्जवा पात्रों की सहानुभूति उभाड़ने का कोई प्रयत्न उसके समान पारदर्शी बुद्धि पति पाठकों तथा अंतर्दृष्टि रखने वाला कलाकार नहीं कर सकता था। उन्नीसवीं सदी के संपूर्ण यूरोपियन साहित्य में फ्लोबेर और ज़ोला इस संबंध में अपवाद माने जा सकते हैं। केवल वे ही दो कलाकार ऐसे रहे हैं जिनकी पैनी बुद्धिवादी दृष्टि में यह बात समाई कि किसी उपन्यास के नायक को सहानुभूति-मूलक और समवेदनात्मक दृष्टिकोण से चित्रित करना कतई आवश्यक नहीं है।

पर यह सब होने पर भी ज़ोला की एक बहुत बड़ी कमज़ोरी इस उपन्यास में रही है। वह यह कि अपनी वेश्या नायिका के प्रति वह निरपेक्ष नहीं रह सका है। उसकी यह विशेषता अत्यन्त प्रशंसनीय है कि उसने अपनी पतिता नायिका के भीतर अपने वर्ग के प्रति किये गये अत्याचारों का बदला लेने के लिये प्रतिहिंसा तथा विद्रोह की भावनाएं भर दी हैं। पर एक तो वह विद्रोह अनजान में चलता है, दूसरे उस विद्रोह तथा प्रतिहिंसा की तब कोई सार्थकता नहीं रह जाती जब वह स्वयं भी उन लोगों के साथ अपने को विनाश के पथ पर घसीटे लिये जाती है, जिन्हें वह पतन के गड्ढे में ढकेलना चाहती है। नायिका की इस विकृत और आत्मघाती मनोवृत्ति के बावजूद ज़ोला ने चाहा है कि पाठक उसके प्रति सहानुभूतिशील हों और उसके लिये करुणा के आंसू बहायें। उन्नीसवीं शताब्दी के भावुकतावाद की इस कमज़ोरी से ज़ोला जैसा कठोर वास्तविकतावादी कलाकार भी मुक्त न हो पाया। शोषित-वर्ग की वेश्या नायिका के प्रति सहानुभूति दिखाने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, पर अभी आत्मघाती और साथ ही समाजघाती मनोभावनाओं के प्रति भी सहानुभूति दिखाना आधुनिक मनोवैज्ञानिक आदर्शवाद के सर्वथा [illegible] है।

[illegible] के उपन्यासों के [illegible] 'मनोविज्ञान' दृष्टिकोण की [illegible] आज के मानदंड से जब हम बालज़ाक के उपन्यासों की आलोचना करते हैं तो सर्वथा आदर्शों में उससे अधिक [illegible] कोई उपन्यासकार हमें नहीं मिलता। फ्लोबेर

के बाद अब हम रूस के कलाकारों को लेंगे। डास्टाएव्सकी के संबंध में कह चुके हैं। अब पहले गोर्की को लिया जाय।

गोर्की को अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादियों ने निर्विवाद रूप से प्रगतिवादी कलाकार माना है। गोर्की ने प्रगतिवाद को इस दृष्टि से अवश्य ही अपनाया है कि उसने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अधिकांशतः चरित्रहीन नायकों की अवतारणा की। (जिसे हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने—कम से कम हिन्दी उपन्यासों की आलोचना के सिलसिले मे—निन्दनीय माना है।) पर उन चरित्रहीन नायकों का चरित्र चित्रण उसने इसलिए नहीं किया है उनकी मानसिक विकृतियों और असामाजिक प्रवृत्तियों का पोल-प्रकाश करे बल्कि इसलिए कि वह भी (संभवतः अपने अनजान मे) उन्नीसवीं शताब्दी के बूर्जवा कलाकारों की तरह तथा कथित 'मानववाद' के मोह से मुक्त नही हो पाया था—हालांकि उसने अपने कुछ आलोचनात्मक निबधों में स्वयं दूसरे मानववादियों की खिल्ली उड़ाई है। उदाहरण के लिए हम उसका सुप्रसिद्ध उपन्यास 'वे तीन' (three of them) ले सकते हैं। कलाकारिता की दृष्टि में यह अपने युग का बेजोड़ उपन्यास रहा है। पर इसके वास्तविक महत्व की परख के लिये हम दूसरे पहलुओं से भी इसे देखना होगा।

गोर्की के इस उपन्यास का नायक ईलिया गोर्की की ही तरह जीवन की घोर संकटपूर्ण और संघर्षमूलक परिस्थितियों की अग्नि-परीक्षा से होकर गुजरता है। अपने अनाथ जीवन के निर्वाह के लिए उसे कुली—मजूरों फेरीवालों तथा दूसरे निम्नवर्गीयों का जीवन बिताना पड़ता है। पर दूसरे श्रमिकों में और उसमें यह अंतर है कि उसकी अनुभूतिशीलता अत्यन्त तीव्र और बुद्धि बड़ी पैनी है। इस कारण अपनी हीन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप उसके भीतर रह-रहकर प्रचंड विद्रोही भावनाएं समय-समय पर उभड़ती रहती हैं जिन्हें वह दबाने का प्रयत्न करता रहता है। पर इस प्रकार की विस्फोटोत्पादक प्रवृत्ति को अधिक समय तक दबाये रहना असंभव नहीं है। अन्त में एक दिन विस्फोट होकर रहता है और वह एक बुड्ढे सूदखोर का गला घोटकर उसे मार डालता है और उसका सब मालमत्ता लेकर चंपत हो जाता है। उसकी एक वेश्या प्रेमिका है जिसे गोर्की ने अत्यंत सकरुण और सहृदय रूप में चित्रित किया है। बुड्ढे की हत्या करने के बाद वह अपनी उस वेश्या प्रेमिका के पास अपनी 'अपराधी'

विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस 'सुधारवादी' नायक के व्यक्तित्व के विकास की चरम परिणति एक अहंवादी, असामाजिक, ईर्ष्यालु और व्यक्तिगत स्वार्थ में पूरी तरह डूबे हुए पति के रूप में होती है। फिर भी लेखक की पूरी सहानुभूति इस संकीर्ण मानसिकता वाले नायक के प्रति व्यक्त हुई है। केवल एक ही विशेषता इस नायक में हम पाते हैं, और संभवतः टाल्सटाय ने उसी एक गुण के लिए उसे महिमान्वित किया हो। वह गुण यह है कि वह व्यभिचारी नहीं है, और अविवाहित स्त्री-पुरुष प्रेम से वह बहुत चिढ़ता है। पर यह गुण इतना 'महान्' नहीं है कि वह उसके स्वभाव की दूसरी बड़ी हीनताओं को छिपाने में समर्थ हो। यह घोर आत्म-कामी नायक जब उस लड़की को पत्नी-रूप में पा जाता है जिससे वह प्रेम करता है, तो अपनी जमींदारी से प्राप्त संपत्ति की तरह ही उसे भी विशुद्ध व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में मानने लगता है, और उसकी तनिक भी स्वतंत्रता से बेतरह तिलमिला उठता है। यह सच है कि वह किसी 'विलेन' की तरह उसके साथ पेश नहीं आता पर संकीर्ण आदर्शवाद और झूठे सुधारवाद की आड़ में वह जिस प्रकार के अप्रत्यक्ष अपनी पत्नी पर तथा अपने परिचितों पर करता है वह टाल्सटाय के युग में भले ही प्रशंनीय रहे हों, पर आज की यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक कसौटी के युग में उनकी हीनता स्पष्ट सामने आ जाती है। दूसरी ओर इसी उपन्यास में हम देखते हैं कि अपने ढोंगी पति के झूठे नैतिक तथा 'सामाजिक' अनुशासनों से भाराक्रांत वातावरण से ऊब कर आन्ना जब एक ऐसे व्यक्ति से प्रेम-संबंध स्थापित कर लेती है जो उसके दृष्टिकोण को समझ कर उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति रखता है, तो लेखक ने पाठकों की आँखों में उसे हर तरह से निंदनीय सिद्ध करने में कोई बात उठा नहीं रखी है, और उसे प्रतिपल घुल-घुल कर शोक और संताप से पीड़ित कराने के बाद अंत में अत्यंत दुर्गति के साथ रेल के इंजन के नीचे दब कर आत्महत्या कराने को विवश किया है। इन बातों से इस 'सुधारवादी' लेखक के दृष्टिकोण की संकीर्णता का वास्तविक रूप आज के युग की यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक प्रगतिशीलता के प्रकाश में स्पष्ट हो उठता है।

'पुनर्जन्म' ('रेजरेक्शन') में टाल्सटाय का मानववाद अपनी संकीर्ण चहारदीवारी से कुछ ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है। इस उपन्यास की दासवर्गीय युवक की प्रेम-प्रवंचना से पूर्ण कामुकता का

शिकार बनने के बाद घृणित जीवन बिताने को बाध्य होती है, और अंत में एक गुंडे की हत्या के अपराध में उसे साइबेरिया में आजीवन निर्वासन का दंड भोगना पड़ता है। उस सामंतवर्गीययुवक को उसकी दुर्दशा का पता चल जाता है। उसके भीतर पश्चाताप की भावना उत्पन्न होती है और वह प्रायश्चित के रूप में बिना दंड के उसी प्रवंचिता नायिका के साथ आजीवन कठोर निर्वासन-दंड भोगने के लिए स्वयं भी साइबेरिया की यात्रा के लिये चल पड़ता है। इस उपन्यास में टाल्सटाय के मानववाद की आपेक्षिक उदारता केवल इस अर्थ में हम पाते हैं कि उसने अंत तक उस लड़की के प्रति पाठक की सहानभूति उभाड़नी चाही है जो समाजवादियों की कुक्रियाओं के फलस्वरूप घोर घृणित और वीभत्स जीवन की पंकिलता में अपने को डुबा देती है। पर इस उपन्यास में भी हमें टाल्सटाय के अ-यथार्थवादी दृष्टिकोण का पता नायक की उस अन्त समय की प्रायश्चित्तमूलक भावना में मिलता है जिसकी न नायिका के दंडित जीवन के लिए कोई सार्थकता रह जाती है न समाज के लिए ही कोई उपयोगिता। इस तरह की भावुकता केवल शून्यवाद को अपनाती है और न प्रगतिवादी आदर्शवाद की दृष्टि से किसी महत्व की सिद्ध होती है न आज के मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के मान दंड से।

उन्नीसवीं शताब्दी के युगांतरकारी सभी लेखकों में तुर्गनेव की भी गणना की जाती है। प्रिन्स क्रोपोटकिन जैसे महान क्रांतिकारियों ने भी उसकी कृतियों की बड़ी प्रशंसा की है। 'निहिलिज्म' (नास्तिवाद) का सर्व प्रथम प्रचारक तुर्गनेव ही माना जाता है। वास्तव में तुर्गनेव की किसी भी रचना में कहीं भी हम ऐसा दृष्टिकोण नही पाते जिसमें घोर बूर्जवा आदर्श की परंपरा मे कहीं भी कोई व्यतिरेक हुआ हो। या तो तुर्गनेव ने बूर्जवा भावुकतावाद-जनित रस को परिपूर्ण रूप से अपनाया है या उसी भावुकता के अतिरेक से उत्पन्न अजीर्ण, नकारात्मक प्रतिक्रिया की खट्टी डकारें छोड़ी हैं। उसके 'बाप और बेटे' नामक उपन्यास में सामंतवर्गीय बाप के बेटे बाजारोफ के जीवन में जो 'नास्तिवाद', अकर्मण्यता और निराशावाद हम पाते हैं वह इसी अजीर्ण का प्रतिफल है।

ऊपर जिन-जिन उपन्यासों का विश्लेषण तथा संक्षिप्त आलोचना की गयी है उनके संबंध में कोई यह न समझ ले कि मैं सर्वथा निंदनीय

भ्रष्ट और महत्वहीन समझता हूँ। वास्तव में वे सब महान् कृतियाँ हैं और उपन्यास-कला की दृष्टि से अपने-अपने ढंग की बेजोड़ चीजें हैं। मैंने केवल यही दिखाना चाहा है कि आज के युग की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसे जाने पर उनमें बहुत-सी ऐसी आदर्शवादी त्रुटियाँ रह जाती हैं जो आज के समाज को ग्राह्य नहीं हो सकतीं। इस विश्लेषण से दो बातें और प्रमाणित होती हैं। पहली यह कि उपन्यास का नायक 'धीरोदात्त' प्रकृति का और चट्टान की तरह दृढ़ चरित्र वाला होना चाहिये, यह बात उन्नीसवीं शताब्दी के भी किसी श्रेष्ठ उपन्यासकार को मान्य नहीं थी। पर उस युग के चरित्रहीन अथवा दुर्बल-स्वभाव नायक और आज के चरित्रहीन अथवा दुर्बल-स्वभाव नायक के चरित्र-चित्रण में यह अन्तर है कि उस युग के मानववादी लेखक की भावुकतापूर्ण सहानुभूति अपने दुश्चरित्र नायक के प्रति रहती थी, पर आज का यथार्थवादी लेखक अपने प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक अस्त्र से अपने नायक के अंतर्मन में दबी पड़ी सभी विकृतियों को अत्यन्त निर्ममता से चीर कर, उसका यथार्थ रूप सारे संसार के आगे रखकर, यह दिखाना चाहता है कि ऐसे भ्रष्ट-चरित्र व्यक्तियों के प्रति भावुकतापूर्ण करुणा बरसाने से न उसका कल्याण और उनके उद्धार और उनकी आत्मा के परिमार्जन का एक मात्र उपाय यही है कि उनके भीतर छिपी हुई भारी गंदगी उनके भीतर से खोद कर उनके आगे तथा संसार के सम्मुख रख दी जाय।

उन्नीसवीं शताब्दी के मानववादी रूसी तथा फ्रांसीसी उपन्यास-कारों की कृतियों का प्रभाव भारतवर्ष में सबसे पहले पड़ा बंगाल में, और वहाँ भी विशेष रूप से शरत्चंद्र के उपन्यासों में। शरत्चंद्र के प्रशंसक आलोचकों ने उनके उपन्यासों के संबंध में दो बातें खास तौर से प्रचारित की हैं। एक तो यह कि उनमें समाज-दलित पथभ्रष्ट नायक-नायिकाओं के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गयी है—अर्थात् पापियों के प्रति क्षमा, करुणा और समवेदना को महत्व दिया गया है; दूसरे यह कि युगों से शोषिता नारी की दयनीयता घोषित की गयी है और उसका विद्रोही रूप सामने रख दिया गया है। पर यदि प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय, तो पता चल जायगा कि इन दोनों में से किसी भी बात में पूरी सचाई

नहीं है। उनके नायक नायिकाओं के प्रति शरत्चंद्र की सहानुभूति अवश्य है, पर वह इसी हद तक है जिस हद तक वे अपनी चरित्र-भ्रष्टता को स्वाभाविक बनाने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए देवदास को लीजिए। देवदास एक निकम्मा, उच्छृंखल, स्वभाव से ही पतनोन्मुख प्रवृत्तियोंवाला भ्रष्ट-चरित्र नायक है। लेखक ने इस विकृत मनोवृत्ति वाले नायक के निरूपण का चरित्र अत्यन्त सम्मोहक रूप से अंकित किया है और पाठक को यह विश्वास करने के लिए बाध्य करता जाता है कि उसकी (देवदास की) सारी चरित्रहीनता के लिए समाज दोषी है। लेखक ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज भरसक इस बात के लिए प्रयत्न करता रहता है कि उसके घेरे के भीतर बँधा हुआ कोई भी प्राणी असामाजिक न बने। एक समझदार सामाजिक प्राणी समाज की संकीर्ण रूढ़ियों में सुधार का प्रयत्न कर सकता है, पर उन रूढ़ियों से खीझ कर, संघर्ष से भाग कर वह कभी उच्छृंखल और असामाजिक जीवन बिताना पसन्द नहीं करेगा। ऐसा केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसके भीतर गलत मनोवैज्ञानिक वातावरण के फलस्वरूप विकृति के बीज उत्पन्न हो गये हों। ऐसे व्यक्ति की विकृतियों के लिए समाज को दोषी ठहरा कर उसके उच्छृंखल कर्मों पर करुणापूर्ण रोमांटिक रंग चढ़ा कर उन्हें महिमान्वित करने का प्रयत्न यदि शरत्चंद्र की तरह कोई चतुर कलाकार करे तो वह साधारण जनता को अत्यधिक प्रभावित करने में समर्थ अवश्य होगा, पर इसी कारण गलत दृष्टिकोण के प्रचार के फलस्वरूप वह जनता को गलत रास्ते में भटकाने के लिए भी उत्तरदायी होगा। 'देवदास' का फिल्म निकल जाने के बाद शरत्चंद्र की इस रचना ने नवयुवकों के कितने बड़े समाज में घोर अस्वास्थ्यकर भावुकता का विषैला बीज बो दिया था, इस तथ्य पर जब मैं विचार करता हूँ तो आतंकित हो उठता हूँ। जीवन-संघर्ष के छोर पर ही से अपने को असफल समझने वाला प्रत्येक दुर्बल-स्वभाव नवयुवक अपनी मनोवैज्ञानिक विकृतियों का सारा दोष समाज पर लाद कर शराबखोरी और वेश्यागामिता को ही जीवन के वास्तविक आनन्द की कुन्जी समझने लगा। फिल्म-जगत् के जीवों में सर्वस्व "हाय देवदास! आह देवदास!" की ही आवाज सुनायी देने लगी। विकार-ग्रस्त मानवता को अपनी विकृतियों का औचित्य प्रमाणित करने का एक आधार

मिल गया। सर्वत्र 'देवदास' के लेखक तथा उसके अभिनेता—सहगल—के जयजयकार का रव गूँज उठा। आज जनता का वह उत्साह बहुत कुछ ठंडा पड़ गया है, संदेह नहीं; पर अभी तक 'देवदास' के के घातक रक्त-बीज-यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, खुराक पाते ही सिर उठाने के लिए तैयार बैठे हैं।

आज का प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक उपान्यासकार कभी इस तरह के नायक के प्रति जनता की भावुकतापूर्ण सहानुभूति उभाड़ने की बात न सोच सकता। यदि वह देवदास का चरित्र चित्रित करने बैठेगा तो उसका दृष्टिकोण शरत् के दृष्टिकोण से एकदम विपरीत होगा। शराबखोरी और वेश्यागामिता के प्रति देवदास के झुकाव का कारण खोजने के लिए वह केवल बाहरी सामाजिक कारणों को ही नहीं खोजेगा, बल्कि उसके विकृत अहं के प्रत्येक स्तर को चीर-चीर कर उसके भीतर से ही मूल कारण खोज निकालेगा। संघर्ष से भागने वाले इस प्रकार के पलायन-प्रवृत्ति वाले, रुग्ण मस्तिष्क, बौद्धिक नव-युवकों की उन चालाकियों से वह भली-भाँति परिचित रहता है, जिनके द्वारा वे समाज में अपने को 'अत्याचार-पीड़ित' और अन्याय से तिरस्कृत सिद्ध करके अपने निकम्मेपन को एक 'महान् प्रतिभापूर्ण विशेषता प्रमाणित करना चाहते हैं और इस प्रकार जनता की सहानु-भूति अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वह उनके यथार्थ भीतरी रूप को अनावृत रूप में जनता के आगे रख कर उनका भंडाफोड़ करके समाज को उनके खतरे से बचे रहने के लिए सचेत करेगा। इस प्रकार नायकों और पात्रों के उचित उद्धार का मनोवैज्ञानिक उपाय भी निर्देशित करेगा और साथ ही समाज को भी उनके सम्बन्ध में भटकने से बचावेगा।

शरच्चंद्र के प्रायः सभी लोकप्रिय उपन्यासों ('श्रीकांत', 'चरित्रहीन' आदि) में देवदास की तरह ही उच्छृंखल, निकम्मे, विकार-ग्रस्त और साथ ही अपने को समाज द्वारा प्रवंचित समझने और बनाने वाले नायकों की अवतारणा हुई है, जिन्हें लेखक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिमान्वित किया है और पाठकों की पूरी सहानुभूति उनकी आवारागर्दी की ओर उभाड़ने का प्रयत्न किया है। रोमांटिक कला का यह बूर्जवा दृष्टिकोण आज के युग में खंडित हो चुका है।

नारी के सम्बन्ध में भी शरत् ने 'सुधारवादी' बूर्जवा दृष्टिकोण को अपनाया है। उस दृष्टिकोण को किसी भी हद में प्रगतिशील

नहीं माना जा सकता। परंपरा से अत्याचारी पुरुष-समाज की अनुगत, समाज-पद-दलित और शोषित नारी की जो स्थिति शरत् के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं में थी उससे एक पग भी शरत् ने उसे आगे नहीं बढ़ाया है। उदाहरण के लिए 'देवदास' की ही पार्वती को लीजिये। लेखक ने उसकी तेजस्विनी और त्यागी 'आदर्श' दिखाने का प्रयत्न किया है। पर उस 'तेजस्विता' की निपट अ-सार्थकता पग-पग पर प्रमाणित होती है। अपनी कथित 'विद्रोहिता' की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह स्वेच्छा से उस वृद्ध के साथ शान्तिपूर्ण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का आडंबर रचती है, जिसके साथ समाज ने बलपूर्वक उसका विवाह कर दिया है। पर यह सब होने पर भी वह उस चरित्र-हीन, उच्छृंखल, पतित नायक को ध्यान में या अज्ञात में निरंतर भजती रहती है जिसने पग-पग पर उसका अपमान करके उसे ठुकराया है। पार्वती को इस रूप में चित्रित करके लेखक ने उसके नारी-हृदय की 'महानता' प्रदर्शित करनी चाही है, पर वास्तव में यथार्थवादी मनो-वैज्ञानिक प्रगतिशील दृष्टिकोण से देखे जाने पर यह नारी की चरम पतित अवस्था प्रमाणित होती है।

'श्रीकान्त' की अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा घोषित करते हुए शरत् ने भारतीय नारी की चरम निराशा का गौरव-गान गाया है। पर निष्कृति, चरित्रहीन, मंझलीदीदी-बड़ीदीदी, और विराज बहू का भाव अन्नदा दीदी जैसा तथा केवल इस आदर्श के आधार पर टिकी रहती है कि हर हालत में पातिव्रत धर्म को अपनाना नारी का सर्वश्रेष्ठ, सर्व प्रथम और सबसे अंतिम गुण है। अपने अधम पति की घृणित इच्छा की पूर्ति के लिए उसे कंधे पर लाद कर वेश्या के यहाँ तक उसे पहुँचा आने वाली पौराणिक सती नारी से शरत् युग की अन्नदा दीदी का चरित्र किस हद तक प्रगतिशील है यह समझ में आना कठिन है।

'चरित्रहीन' की नायिका सावित्री आरंभ से अन्त तक उपन्यास के शराबी और आवारा नायक को भजती रहती है, और नायक भी उसे चाहता है। पर जब विवाह का अवसर आता है तो एक दूसरी लड़की से उसका विवाह तय हो जाता है। स्वयं सावित्री इस विवाह का समर्थन करती है। सावित्री नायक सतीश से कहती है कि "मेरा मन तुम्हारी ही संपत्ति है, पर अपना शरीर मैं तुम्हें नहीं दे सकती।" (उसका आशय यही है, शब्द मुझे ठीक याद नहीं हैं।) अपना

'शरीर' न देने-अर्थात् सतीश से विवाह के लिए राजी न होने के आदि और अंतिम कारण यह है कि वह विधवा है। शरत् के नारी-चरित्र इस हद तक भी अपने विद्रोह को आगे बढ़ाने के लिए तैयार नहीं हैं कि अत्यन्त औचित्यपूर्ण परिस्थिति में भी विधवा-विवाह को स्वीकार करें।

वास्तव में शरत् की लोकप्रियता का एक जबर्दस्त कारण यह रहा है कि उन्होंने बूर्जवा समाज की घोर रूढ़िग्रस्त सामाजिक परंपराओं के मूल पर आघात करने का साहस तनिक भी नहीं दिखाया है - भले ही ऊपरी सतह पर 'विद्रोह' का झोल कहीं-कहीं चढ़ा दिया हो।

तथापि, इन सब निश्चित तथ्यों के बावजूद, शरत् ने अपनी चतुर कलाकारिता से पाठक-समाज की (और साथ ही आलोचक-समाज की भी) आँखों में इस हद तक धूल झोंकने में सफलता पायी है कि वह परंपरा से दलित नारी-समाज के स्वातंत्र्य के हिमायती माने जाते रहे हैं! हमारे कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने इस प्रतिक्रियावादी कलाकार की रचनाओं की प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हुए उन्हें 'प्रगतिशील' माना है। अब समय आ गया है कि हम अपनी साहित्यालोचना की कसौटी को इस हद तक बेलाग बनायें कि विजातीय तत्व के मिश्रण का एक कण भी हमें धोखा देने में असमर्थ रहे और किसी साहित्यिक कृति के खरेपन का ठीक-ठीक अनुमान सूक्ष्मतम रूप में हमारे आगे सुस्पष्ट हो उठे।

जब भारत में शरत् का मानववाद धीरे-धीरे साहित्यिक जनता में प्रचारित हो रहा था तब यूरोप में डी० एच० लारेंस, जेम्स जोइस आदि लेखक एक दूसरे ही ढंग की मनोविश्लेषणात्मक कला को अपना रहे थे। फ्रायड के मनोविश्लेषण संबंधी वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा प्रथम महायुद्ध-जनित परिस्थितियों ने उन्हें अत्यंत प्रभावित किया। पर वे लोग मानव-चरित्र के उन्नयन के लिए विशेष उत्सुक नहीं थे। उन्हें जो नया मनोवैज्ञानिक अस्त्र मानव-प्रकृति को अत्यन्त सूक्ष्मता से चीर सकने के योग्य मिल गया था उसे रंगरूटों की तरह अपना रहे थे और अधिकतर उसका दुरुपयोग कर रहे थे। इस दुरुपयोग को भी उन्होंने एक कला का रूप दे दिया था, संदेह नहीं, पर था वह दुरुपयोग ही। फ्रायड, युंग तथा आडलर आदि प्रमुख मनोविश्लेषक वैज्ञानिकों ने मानव-मन के भीतर दबी पड़ी असंख्य उलझनों को सुलझा कर उस सुलझाव के द्वारा मानव-प्रकृति को

'शरीर' न देने-अर्थात् सतीश से विवाह के लिए राजी न होने के आदि और अंतिम कारण यह है कि वह विधवा है। शरत् के नारी-चरित्र इस हद तक भी अपने विद्रोह को आगे बढ़ाने के लिए तैयार नहीं हैं कि अत्यन्त औचित्यपूर्ण परिस्थिति में भी विधवा-विवाह को स्वीकार करें।

वास्तव में शरत् की लोकप्रियता का एक जबर्दस्त कारण यह रहा है कि उन्होंने बूर्ज्वा समाज की घोर रूढ़िग्रस्त सामाजिक परंपराओं के मूल पर आघात करने का साहस तनिक भी नहीं दिखाया है - भले ही ऊपरी सतह पर 'विद्रोह' का झोल कहीं-कहीं चढ़ा दिया हो।

तथापि, इन सब निश्चित तथ्यों के बावजूद, शरत् ने अपनी चतुर कलाकारिता से पाठक-समाज की (और साथ ही आलोचक-समाज की भी) आँखों में इस हद तक धूल झोंकने में सफलता पायी है कि वह परंपरा से दलित नारी-समाज के स्वातंत्र्य के हिमायती माने जाते रहे हैं! हमारे कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने इस प्रतिक्रियावादी कलाकार की रचनाओं की प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हुए उन्हें 'प्रगतिशील' माना है। अब समय आ गया है कि हम अपनी साहित्यालोचना की कसौटी को इस हद तक बेलाग बनायें कि विजातीय तत्व के मिश्रण का एक कण भी हमें धोखा देने में असमर्थ रहे और किसी साहित्यिक कृति के ...पन का ठीक-ठीक अनुमान सूक्ष्मतम रूप में हमारे आगे सुस्पष्ट हो उठे।

जब भारत में शरत् का मानववाद धीरे-धीरे साहित्यिक जनता में प्रचारित हो रहा था तब यूरोप में डी० एच० लारेंस, जेम्स जोइस आदि लेखक एक दूसरे ही ढंग की मनोविश्लेषणात्मक कला को अपना रहे थे। फ्रायड के मनोविश्लेषण संबंधी वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा प्रथम महायुद्ध-जनित परिस्थितियों ने उन्हें अत्यंत प्रभावित किया। पर वे लोग मानव-चरित्र के उन्नयन के लिए विशेष उत्सुक नहीं थे। उन्हें जो नया मनोवैज्ञानिक अस्त्र मानव-प्रकृति को अत्यन्त सूक्ष्मता से चीर सकने के योग्य मिल गया था उसे रंगरूटों की तरह अपना रहे थे और अधिकतर उसका दुरुपयोग कर रहे थे। इस दुरुपयोग को भी उन्होंने एक कला का रूप दे दिया था, संदेह नहीं, पर था वह दुरुपयोग ही। फ्रायड, युंग तथा आडलर आदि प्रमुख मनोविश्लेपक वैज्ञानिकों ने मानव-मन के भीतर दबी पड़ी असंख्य उलझनों को सुलझा कर उस सुलझाव के द्वारा मानव-प्रकृति को

इस के ही मत का कलाकार है) स्पष्ट शब्दों में यह घोषित कर दिया है कि उसकी कला का उद्देश्य मानव को कुत्तों की श्रेणी तक "ऊँचा उठाना" है। उसका यह कहना है कि चूँकि कुत्तों की मिथुन-प्रवृत्ति समाज के बंधन के फलस्वरूप दमित नहीं होती, इसलिए वह आदमी से अधिक उन्नत है। वह यह बात भूल गया है कि दमित मिथुन-प्रवृत्ति का ही यह फल है कि सभ्य समाज प्रारंभिक काल से लेकर आज तक संस्कृति और कला के क्षेत्रों में नये-नये रूपों में उन्नति और विकास करने में समर्थ हुआ है। मानव का जो अवचेतन मन समस्त कलाओं का मूल उत्स है, वह उसकी दमित प्रवृत्तियों की ही सृष्टि है। खराबी तब आती है जब स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्तियों का दमन आत्यंतिक अवस्था को पहुँच जाता है और चारों ओर वज्र-अवरोध खड़ा होकर विकास के लिए कहीं कोई रास्ता नहीं रहने देता। मानव-प्रकृति को दमन के इस 'अति' से बचाना प्रगतिशील कलाकार का काम है न कि यह कि मानव की सहज पशु-प्रवृत्तियों की उच्छृंखलता का राग अलाप कर उस उच्छृंखलता को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल के कुछ पहले से आधुनिक औपन्यासिक कला के जिस युग का आरंभ हुआ था उसका क्रमिक विकास और ह्रास बड़े ही विचित्र ढंग से हुआ। जोला और फ्लोबेर ने समाज के अंतर्गत जिस अविकासशील बूर्जवा दृष्टिकोण के विरुद्ध आघात करने का संकेत दिया था उस संकेत के महत्व को परवर्ती कलाकार नहीं समझ पाये और मानववाद के दलदल में फँस गये, जो ऊपर से कला के लिये एक अत्यन्त आकर्षक आधार मालूम पड़ने पर भी बूर्जवा दृष्टिकोण की संकीर्ण 'उदारता' को और अधिक विकृत, अ-प्रगतिशील और अशक्त रूप देता है। फ्लोबेर और जोला का संकेत समय की गति के साथ डी० एच० लारेंस और जेम्स जोइस की रचनाओं में किसी कदर प्रतिफलित हुआ संदेह नहीं, पर इन लेखकों ने बूर्जवा संस्कारों को ध्वस्त करने के प्रयत्न में एक नये ढंग की प्रतिक्रियात्मक विकृति का प्रचार आरंभ कर दिया।

प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रियात्मक परिणति उच्छृंखलतावादी 'सुररियलिस्ट' कला में हुई। द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सर्जनात्मक साहित्य-कला ने क्या रूप धारण किया है और क्या रूप धारण करेगा, इस बात की जाँच के लिए हमें

पाश्चात्य साहित्य की ओर नहीं देखना होगा—क्योंकि वहाँ उस युग में किसी भी देश के महत्वपूर्ण कलाकार (कवि अथवा उपन्यासकार) का आविर्भाव नहीं हुआ है, बल्कि वहाँ के आलोचक वर्ग के दो-चार साधारण लेखकों को महान् प्रतिभाशाली बनाकर उनका ढोल बड़े जोर से पीटना शुरू कर दिये हैं। उस युग में हमारे साहित्य-पारखियों को लौट कर आना होगा एवं अपने आज तक के दास देश की नाना बंधनों से मुक्त भाषा में रची गयी रचनाओं की ओर। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व, उसके मध्य में तथा उसकी समाप्ति के बाद जो औपन्यासिक कृतियाँ हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं वे आधुनिक विश्व-कथा साहित्य के नवीनतम विकास की प्रतीक हैं। सर्वश्री जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा आदि की कृतियों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। विश्व-साहित्य-क्षेत्र के पिछले युग के उपन्यासकार प्रगति की ओर आगे बढ़ने का प्रयत्न करने पर भी जिन-जिन त्रुटियों के जाल में अवश्य उलझ गये थे उनसे सावधान रहने का सुयोग हिन्दी के वर्तमान उपन्यासकारों को मिला है। उस सुयोग से उन्होंने बहुत-कुछ लाभ उठाया है और भविष्य में और अधिक लाभ उठायेंगे ऐसे लक्षण दिखाई देते हैं। इस बात के भी स्पष्ट लक्षण दीख पड़ते हैं कि हमारे साहित्यालोचक आज तक जिस भूल के वश होकर योरोपियन कथा-साहित्य को आवश्यकता से अधिक महत्व देते रहे हैं, उनकी प्रतिगामी रचनाओं को भी प्रगतिशील बताते रहे हैं और उनकी तुलना में भारतीय (विशेषकर हिन्दी) कथा-साहित्य की अन्यायमूलक उपेक्षा करते रहे हैं, उस भ्रान्ति से वे धीरे-धीरे मुक्त हो जायँगे।

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि आधुनिक विश्व-कथा साहित्य ने अपने क्रमिक विकास के लिए एक निश्चित नियम के अनुसार एक देश से दूसरे देश की मिट्टी बदली है। सब से पहले फ्रांस में उसका वास्तविक विकास प्रारंभ हुआ। उसके बाद फ्रांस की मिट्टी को अपने प्रसार के लिए पर्याप्त रूप से उर्वर न समझ कर उसने रूस की मिट्टी का आश्रय पकड़ा। उसके बाद (प्रथम महायुद्ध के बाद) वह रूस से बंगाल की करुण-कोमल मिट्टी में जा कूदा। वहाँ की मिट्टी ने उसकी उपज में वृद्धि अवश्य की और उसे एक गहरी मार्मिकता और सुकुमारता प्रदान की, पर वह आध्यधिक उपज और उसके स्वास्थ्य के लिए विशेष हितकर सिद्ध न हुई।

वहाँ उसका अत्यंत करुण-करुण कोमल-कोमल रूप प्रिय तो लगता था पर स्वस्थता के निपट अभाव के कारण उसमें क्षय के कीटाणु प्रवेश करने लगे। फलतः वहाँ का आश्रय त्याग कर वह हिन्दी की कोमल और कठोर के मिश्रण वाली मिट्टी में नया विकसित रूप और नया जीवन प्राप्त करने के लिए चला आया। यहाँ अब वह अपने उस [illegible] हुए-संशोधित और परिष्कृत-रूप में अपेक्षाकृत स्वस्थ, (अर्थात्) वैज्ञानिक, यथार्थिक, कल्याणोन्मुख और प्रगतिशील जगत् के पोषक तत्वों से परिपुष्ट होकर धीरे-धीरे पनप रहा है। कम से कम आगामी २५ वर्षों तक उसकी स्थिति यहीं रहेगी, ऐसी आशा की जाती है।

हिन्दी के वर्तमान कथा साहित्य के इस उन्नतिशील रूप को विश्व के प्रांगण में अधिकाधिक प्रसारित करने के लिए स्वभावतः हमें वास्तविक अर्थों में प्रगतिशील दृष्टिकोण रखनेवाले योग्य साहित्यालोचकों की आवश्यकता पड़ेगी। इस आवश्यकता की पूर्ति भी साहित्य क्षेत्र के विकास के नियमों के अनुसार अपने आप निकट भविष्य में हो जायगी। इस नियम के अनुसार उन आलोचकों को अपने आप मैदान से हट (छँट) जाना पड़ेगा (१) जो स्वभाव से ही रूढ़ि-पंथी और पतिगामी विचार रखते हैं और किसी भी नयी, क्रांतिकारी रचना का मूल्यांकन नये—प्रगतिशील—मान के अनुसार करने में असमर्थ है; (२) जो किसी भी सर्जनात्मक कृति के सम्बन्ध में, साधना और चिंतना-शक्ति के अभाव के कारण अपनी कोई मौलिक सम्मति निर्धारित नहीं कर पाते, और केवल घिसे-घिसाये रटे-रटाये सर्व-साधारण में प्रचलित हुए बिना ही, उस नकाब की आड़ में अपने जले दिल के फफोले फोड़ने के उद्देश्य से नवीनतम विकास को अपनानेवाली रचनाओं की निंदा करना और प्रतिगामी रचनाओं को प्रगतिशील घोषित करके उनका स्तवन करना ही अपना पेशा बना लेते हैं; (४) जो वास्तविक अर्थों में उन्नतिशील और विकास प्राप्त रचनाओं का महत्व भली-भाँति समझने की बुद्धि रखते हुए भी, जान-बूझ कर व्यक्तिगत, स्वगत कारणों से उनका विरोध करते रहने अथवा उनके सम्बन्ध में निपट मौन साधते रहने का रुख ग्रहण किये रहते हैं। जिस प्रकार पार्थिव क्षेत्र में विकास का यह नियम है कि जो प्राणी कभी परिस्थितियों से अपने को अभियोजित नहीं कर पाते वे संघर्ष में विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र के विकास में भी यही नियम

लागू होता है। इसलिए जिन कोटियों के साहित्यालोचकों का उल्लेख पहले किया जा चुका है वे यदि नयी सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं बना पायेंगे तो उन्हें बरबस ऐसे नवीन आलोचकों के लिए रास्ता छोड़ देना पड़ेगा जो वास्तविक प्रतिभा के महत्व और स्तरों के सच्चे पारखी होंगे।

हिन्दी के वर्तमान उन्नतिशील, नव-विकासोन्मुख उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण में जाने का यह अवसर नहीं है। इस सम्बन्ध में मैं अन्य कई लेखों में अपना मत दे चुका हूँ और भविष्य में फिर कभी लिखूँगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रेमचंद जी के सुधारवादी और मानववादी युग के बाद का उपन्यास-साहित्य उत्तरोत्तर एक ऐसी दिशा की ओर विकसित होता और प्रगति करता जा रहा है जो आधुनिक विश्व-कथा-साहित्य में एक निश्चित मील का पत्थर सिद्ध होगी। अभी यह बात कुछ गतानुगतिक तथा प्रतिगामी बुद्धि रखने वाले साहित्यालोचकों को अद्भुत रूप से हास्यास्पद तथा 'फैन्टास्टिक' लग सकती है, पर मैं सब कुछ जान-बूझ कर, सोच-समझ कर, साहित्यिक विकास के मूल सिद्धांतों के अध्ययन के आधार पर, यह बात कह रहा हूँ। पहले ही यह तर्क उठेगा कि कथा-साहित्य के विकास का क्रम फ्रांस में, रूस में और रूस से एकदम बंगाल में बताकर और इंगलैंड, नार्वे, स्वीडन, इटली, स्पेन आदि देशों के कथा-साहित्य की एकदम उपेक्षा करके मैंने बड़ी ज्यादती की है। साहित्यिक इतिहास की मूलगत प्रवृत्तियों के अंतरीण अध्ययन से रहित तथा आधुनिक कथा-साहित्य के विशेषत्व के निगूढ़ और अंतरतम रहस्य से अपरिचित साहित्य-समाज को यह समझाना बहुत ही कठिन है कि मैं क्यों इस परंपरा-विरोधी परिणाम पर पहुँचा हूँ। समय ही उन्हें समझाने में समर्थ होगा। यहाँ पर केवल इतना ही जता देना चाहता हूँ कि नार्वे, स्वीडन, स्पेन, इंगलैंड आदि देशों के उपन्यासकारों ने कथा-साहित्य के क्षेत्र में नये-नये टेकनीकों के प्रयोग भले ही किये हों, और उनके फलस्वरूप अधिक संख्या में 'नोबेल पुरस्कार' भले ही प्राप्त किये हों जिनका कोई भी महत्व आज के दिन मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। पर उन्होंने अभी उस अत्यंत मार्मिक अनुभूति, जीवन और जगत की मानवगत समस्याओं और उलझनों को सुलझाने के सम्बन्ध में उस तीव्रतम आकुलता का आभास अपनी रचनाओं द्वारा नहीं दिया, जो फ्रांस और

रूस की (विशेषकर रूस की), विशेषता नहीं है और जो पहले कभी बंगाल की और आज हिन्दी साहित्य-जगत की विशेषता है।

एक छोटे-से उदाहरण द्वारा मैं अपनी इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। 'सुररियलिज्म' कला (जिसका जन्म भी फ्रांस ही में हुआ था) जब इंग्लैंड में आई तब वहाँ के कलाकारों (कवियों, कथाकारों तथा चित्रकारों) ने विदेशागत का अनुसरण करके उसके द्वारा जीवन और जगत की गहन समस्याओं का विवेचन और विश्लेषण गंभीर दृष्टि से करने के बजाय उन सबको विकृत मनोवृत्ति वाले अकाल-पक्व बच्चों की तरह अत्यंत बीभत्स ढंग से हास्यास्पद रूप देना आरम्भ कर दिया। अपनी नवोन्मेषशील सर्जनात्मक कला द्वारा उक्त गहन समस्याओं के सुलझावों के लिए कुछ नये सुझावों की ओर इंगित करने के बजाय उन्होंने उन सब समस्याओं को ही नटखट बच्चों की तरह इधर-उधर छितरा कर उनका मखौल उड़ाना प्रारंभ कर दिया। पर जब, वही कला (कुछ देर से) हिन्दी में आयी तब देखा गया कि उस नये 'टेकनीक' द्वारा हमारे कलाकार जीवन और जगत से संबंधित जटिल प्रश्नों की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के प्रयत्न में अत्यंत गम्भीरता से जुट गये और न सुलझा सकने के कारण अपनी व्याकुलता को भी उसी गम्भीर और मार्मिक रूप में प्रकट करने लगे। 'तार सप्तक' नाम से विभिन्न कवियों की नये ढंग की कविताओं का जो संग्रह कुछ वर्ष पूर्व छपा था उसके अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जीवन और जगत के बाह्य और अंतरीण रहस्यों को समझने की यह मार्मिक व्याकुलता, यह तीव्र उत्कंठा, और न समझ पाने की निराशा के आघात से उत्पन्न प्रचंड अनुभूत्यात्मक गतिशीलता—यह है आज के हिन्दी-जगत के कलाकारों की विशेषता। उनकी रचनाओं में अभी जो बहुत-सी त्रुटियाँ वर्तमान हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है। पर उन त्रुटियों के बावजूद जिस वास्तविक और गहरी प्रगतिशीलता की ओर उनकी सर्जना-शक्ति बढ़ी चली जा रही है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका महान् भविष्य दिन-प्रतिदिन स्पष्ट से स्पष्टतर होता जा रहा है।

———

आलोचना में अनाचार

गत ३० वर्ष के साहित्यिक जीवन में अनेक मीठे और कड़ुवे अनुभव मुझे हो चुके हैं। इसलिए जब मेरे निन्दक आलोचक (जिनकी संख्या, मेरे दुर्भाग्य से, इधर कुछ वर्षों से बहुत बढ़ गयी है) मेरी किसी रचना के खिलाफ प्रचार-कार्य आरम्भ कर देते हैं, और ऐसा करते हुए अक्सर मुझे भी गाली दे बैठते हैं, तो इस तरह की बातों से थोड़ा-बहुत क्षोभ स्वाभाविक होने पर भी मैं अधिक व्यग्र नहीं हो उठता। गालियाँ खाने की आदत मुझ में पड़ी हुई है, और अब इस तरह के आघातों के लिये मन बहुत कड़ा हो गया है। 'विशाल भारत' में प्रकाशित मेरे दो-एक साहित्यिक लेखों की निन्दात्मक आलोचनाएँ उसी पत्र में छपी हैं। उनका प्रत्युत्तर देने के लिये मेरे मित्रों ने मुझ से आग्रह किया, और स्वयं 'विशाल-भारत' के तत्कालीन सम्पादक ने उनमें से एक आलोचना को छापने के पहले उसे मेरे पास इस उद्देश्य से भेज दिया कि मैं उसका प्रत्युत्तर लिख कर भेजूं ताकि आलोचना के साथ ही मेरा प्रत्युत्तर भी छप जाय; पर मैंने धन्यवाद सहित उनका प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया और प्रार्थना पूर्वक लिख दिया कि वह आलोचना अवश्य छापें, किन्तु मैं प्रत्युत्तर नहीं लिखूंगा, क्योंकि मेरा यह नियम नहीं रहा है। बाद में मालूम हुआ कि मेरे कुछ मित्रों ने मेरी इस चुप्पी का यह अर्थ लगाया कि मैं प्रत्युत्तर देने की योग्यता नहीं रखता। मैंने इस अभियोग को भी चुपचाप सिर-माथे रख लिया, किंतु अपना विचार फिर भी नहीं बदला।

पर 'विशाल भारत' के जून १९४३ वाले अंक में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने जब मेरी उस समय की नयी रचना 'प्रेत और छाया' की 'आलोचना' लिखकर छपायी और उस 'आलोचना' में पुस्तक के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट और सुलझे हुए विचार प्रकट करने के बजाय व्यक्तिगत रूप से मेरे विरुद्ध अपशब्द लिख मारे तब मैंने अपना वर्षों का नियम खंडित करने का विचार किया। इसका कारण था। प्रकाशचंद्र जी एक ऐसे दल से सम्बन्धित हैं जिसके विषय में यह प्रचारित हो चुका है कि वह नये युग की प्रगतिशील विचारधारा का

कि उन्होंने जान कर या अनजान में इस अधूरे वाक्य का पूरक अंश या तो नहीं पढ़ा या उसका उल्लेख करना उचित नहीं समझा। उन्होंने मेरी भूमिका से जितने भी उद्धरण दिए हैं वे सब एकांगीय—बल्कि अर्द्धांगीय हैं। इस बात का कारण सोच कर मैं हैरत में हूँ कि उन्होंने उन विकलाँगीय उद्धरणों के पूरक अंश क्यों नहीं उद्धृत किये जब कि उन (पूरक) अंशों में प्रमाणित की गयी बात के लिये ही मैंने सारी भूमिका की अवतारणा की है। अंगरेजी में यह मसल मशहूर है कि अर्द्ध सत्य झूठ का सब से कुटिल रूप है। प्रकाशचंद्र जी ने (जानकर या अनजान में) मुझे किस प्रकार इसी अन्याय का शिकार बनाया है, आगे चल कर मैं इसे प्रमाणित करूँगा।

प्रकाशचंद्र जी लिखते हैं—"यह स्वाभाविक ही है कि इन सीमाओं में बँध कर जोशी जी मनुष्य के स्वभाव को कुत्सित, कुटिल और पाशविक समझें। साथ ही आप इस स्वभाव को मूल तथा अपरिवर्तित भी मानते हैं। आप इस अपरिवर्तित और अपरिवर्तनशील जगत् के व्यापार देख कर स्तब्ध रह जाते हैं, क्योंकि आदिम मानव की पशु-प्रवृत्तियां ही आज भी जीवन का संचालन कर रही हैं।......"

अपनी इस तरह की बातों के प्रमाण में गुप्त जी ने मेरी भूमिका से जो एकांगीय या अर्द्धांगीय उद्धरण पेश किए हैं उन्हें स्थानाभाव के कारण यहाँ दुहराना व्यर्थ समझता हूँ, पर जो प्रधान और महत्त्वपूर्ण अंश उन्होंने उद्धृत नहीं किये उन्हीं की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना है। अपनी उसी भूमिका में मैंने लिखा है—

"मानवता के लिये सब से कल्याणकर उपाय यह है कि वह अपनी उस अज्ञात चेतना के गहरे, और अधिक गहरे, स्तरों में प्रवेश कर के उसके भीतर जड़ जमानेवाली आदि-कालीन पशु-प्रवृत्तियों की छान-बीन और विश्लेषण करे, और उस पातालपुरी के अंधकार में बद्ध-उन संस्कारों की यथार्थता स्वीकार करके ऐसी तरकीब निकालने का प्रयत्न करे जिससे गलत रास्तों से होकर उन बद्ध प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट न हो, बल्कि उचित मार्गों से उनका नियमित प्रस्फुटन हो।"

मैं पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि वे पंक्ति-चिन्हित वाक्यों पर ध्यान दें। 'प्रस्फुटन' का अर्थ है 'विकास'। विकास का अर्थ है प्रगति, जिसमें स्वभावतः परिवर्तन का भाव निहित है। 'विकास' और 'परि-

वर्तन' में अंतर केवल यह है कि विकास अपने परिवर्तन के बीज प्रकृति (वाह्य-प्रकृति तथा मानव-प्रकृति), दोनों के भीतर से लेकर चलता है, और खाली परिवर्तन किसी अलौकिक कारण से भी संभव हो सकता है। मैं विकास के नियमों द्वारा परिवर्तन चाहता हूँ और प्रकाशचंद्र जी केवल 'परिवर्तन' चाहते हैं। उनके और मेरे विचारों में मूलगत अंतर यहीं पर है। साथ ही उनके परिवर्तन के स्वरूप की एक रूप-रेखा निश्चित है और उस निश्चित रेखा से एक इंच भी आगे बढ़ने की शपथ उन्होंने ले रखी है। पर चिर-प्रगतिशील प्रवृत्ति का यह नियम नहीं है; वह किसी भी निश्चित रूप-रेखा पर स्थिर नहीं रह सकता। 'डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म' (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) के नियम के ही अनुसार (जिसके प्रकाशचंद्र जी विशेष हामी हैं) विकास की प्रत्येक अवस्था में समाज में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ वर्तमान रहेंगी और उन दो द्वन्द्वों के संघर्ष के फलस्वरूप एक तीसरी प्रवृत्ति (जिसमें उन दोनों पूर्व-प्रवृत्तियों के बीज निहित होंगे) विकसित हो सकेगी, और क्रम बराबर चलता रहेगा। अब पाठक मेरे मत के दोनों पहलुओं पर गौर से विचार करें और साथ ही प्रकाशचंद्र जी क्या कहते हैं, उन पर भी ध्यान दें।

एक ओर मैंने यह कहा है कि ..."आदि काल से—जब मनुष्य इस पृथ्वी पर पशु की अवस्था में पाँवों के बल चला फिरा करता था, तब से बल्कि इससे भी पहले से—लेकर आज तक के दीर्घ काल-क्रम में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व-मानव के भीतर बनती बिगड़ती चली गईं, उनमें समयानुक्रम से संस्कार और परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारंभिक वृत्तियों का संस्कार हुआ, वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतनालोक में संचित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी पुनः परिशोधन हुआ, और इन नये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप से संचित हो गईं। यह क्रम आज तक बराबर प्रचलित होता चला गया है। इस अपरिमित दीर्घ काल के भीतर असंख्य मूल पशु प्रवृत्तियाँ और उसके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं।"

मैंने वही उद्धरण दिया है जिसे प्रकाशचंद्र जी ने भी उद्धृत किया है। इस पर कुछ टिप्पणी करने के पहले मैं पाठकों से प्रार्थना करता

कि वे रेखांकित शब्दों पर ध्यान देने की कृपा करें उनसे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मैं 'परिशोधन' (अर्थात् संशोधित रूप में परिवर्तन), 'विकास','प्रगति', पुनः-परिशोधन' और 'प्रवर्तन' इन सब बातों पर केवल विश्वास ही नहीं करता, बल्कि केवल उन्हीं के आधार पर मेरा मतवाद खड़ा है। तब प्रकाशचंद्र जी ने ज्ञात या अज्ञात रूप से जो भ्रम प्रदर्शित किया है उसका कारण क्या है? मैंने जो यह लिखा है कि "असंख्य मूल-पशु प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं।" इससे वह बेतरह बिगड़ खड़े हुए हैं। स्पष्ट ही वह यह जताना चाहते हैं कि मनुष्य-स्वभाव के भीतर कोई भी पशु-प्रवृत्ति किसी भी रूप में वर्तमान नहीं है, और प्रत्येक मानव प्राकृतिक नियमों के बहिर्भूत होकर लोकोत्तर प्राणी बन चुका है—उसके किसी भी कार्य किसी भी भावना में पशु-प्रवृत्ति के अज्ञात बीज का लेश भी वर्तमान नहीं है। हिटलर भी अपने तथा प्रत्येक जर्मन के सम्बन्ध में यही कहा करता था। आश्चर्य है कि प्रकाशचंद्र जी सिद्धांत रूप से हिटलर-वाद के विरोधी होने पर भी उसी प्रकार की बात कहना चाहते हैं! उन्होंने जीव-विज्ञान की दुहाई दी है। यदि डार्विन आज प्रकाशचंद्र जी की इस तरह की बातों को पढ़ता तो हँसता या रोता, कौन जाने! यदि प्रकाशचंद्र जी ने डार्विन का 'ओरिजिन आफ स्पेशीज़' और 'डिसेन्ट आफ मैन' इन दो पुस्तकों का अध्ययन किया होता, तो वह भूल कर भी मेरी इस बात की खिल्ली न उड़ाते कि मानवता का विकास पशु-प्रवृत्तियों से ही हुआ है और वे पशु-प्रवृत्तियाँ अभी तक बीज-रूप में (भले ही संशोधित रूप में) उसके भीतर निहित हैं। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि आज भी ९५ प्रतिशत जीव-विज्ञानवादी तथा शत-प्रतिशत मनोविज्ञान-वेत्ता मेरे साथ हैं।

पर, यह सब होने पर भी, मैंने यह कहीं नहीं कहा कि मानव पशु है और वह चिरकाल पशु ही रहेगा—मेरी भूमिका आदि से अंत तक इस भोंड़ी बात का मूलतः खंडन करती है। मैंने यह अवश्य कहा है कि "अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी ये प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक (और फलस्वरूप सामूहिक) मानव के आचरणों तथा पारिवारिक और सामाजिक संगठनों को युगों से परिचालित करती आई हैं और आज भी कर रही हैं।" पर साथ ही इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया है कि यदि मानव अंतर्लोक की उन मूल प्रवृत्तियों की यथार्थता स्वीकार करके

लिये निर्देशित कर देता है।"—"हम आत्मार्थियों को इस लक्ष्य के अनुसंधान में जुट जाना होगा कि अज्ञात चेतना के पाताल-लोक में स्थित अनन्त नरक के विश्लेषण द्वारा बाह्य जीवन-तत्वों के साथ उन 'नारकीय' (किन्तु मूल) जीवन-तत्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित करके मानव-जगत में किस प्रकार आंतरिक स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है।"

आशा करता हूँ कि उद्धरणों से पाठकों के आगे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यदि मैं मानव-स्वभाव को मूलतया अपरिवर्तित मानता (जैसा कि प्रकाशचंद्र जी कहते हैं) तो "मानव-जगत् में किस प्रकार स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है" इस बात की चिन्ता ही न करता। मेरा सारा उपन्यास इसी एक उद्देश्य को लेकर चला है कि मानव-स्वभाव की करुण वीभत्सताओं के भीतर उन्हीं के बीजों के शुद्धीकरण से, उन्हीं के ऊपर किस प्रकार आंतरिक स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है -बाह्य प्रगति के उद्दण्ड उपायों द्वारा हवाई किले के समान ख्याली स्वर्ग की स्थापना नहीं, बल्कि मूल मानव-स्वभाव की यथार्थता के ऊपर प्रतिष्ठित ठोस और वास्तविक स्वर्ग की स्थापना।

'प्रेत और छाया' की नायिका मंजरी एक स्थान पर कहती है:— "मेरे मन में यह विश्वास जम चुका है कि नरक की जमीन पर ही स्वर्ग की स्थापना हो सकती है। नरक से घबराकर भाग निकलने से ही यदि कोई यह समझे कि वह नारकीय भावनाओं से छुट्टी पा जावेगा तो इससे बड़ी भूल जीवन में दूसरी हो नहीं सकती। क्या तुम यह समझते हो कि नरक बाहरी दुनिया की कोई चीज है? गलत बात है, अपने भीतर नजर डालो, वहां तुम्हारे ही शब्दों में भयंकर कुंभीपाक भभक रहा है और रौरव के विषैले कीड़े कुलबुला रहे हैं। बाहर तो केवल उस भीतरी नरक की अंधेरी छाया व्यक्ति को डराना चाहती है। मासूम बच्चों की तरह छाया से कतराकर असली चीज को अपने भीतर वहन करता हुआ अगर कोई आदमी सातवें स्वर्ग में भी जावे, तो निश्चय ही वह उस स्वर्ग को भी अपने भीतर के पाप-जगत् की छाया से घोर अंधकारमय बना देगा, और जो स्वर्ग नरक की यथार्थता पर स्थापित नहीं है, वह झूठा है; वह आत्मकामियों के संकीर्ण मन की मरीचिका है। नरक ज्वलन्त यथार्थ है। जो व्यक्ति इस यथार्थ को यथार्थवादी उपायों द्वारा ही स्वर्ग का रूप देने में समर्थ होगा केवल वही कल्याण को अपना सकता है।"

मुझे विश्वास है कि इसके बाद पाठकों के आगे यह बात प्रमाणित करने की आवश्यकता मुझे नहीं पड़ेगी कि मेरा उपन्यास मानव-जीवन की यथार्थ अन्तर्प्रेरणाओं के विश्वास के आधार पर खड़ा है, और मानव-स्वभाव को 'मूलतया अपरिवर्तित' किसी भी हालत में नहीं मानता हूँ।

मेरे उपन्यास के सम्बन्ध में प्रकाशचंद्र जी लिखते हैं—"दलालों और वेश्याओं के बीच आपकी कथा का चक्र तेजी से घूमा करता है और इन्हीं विकृत और विरूप प्राणियों की कुत्सित प्रेम-कथाओं को मानव-जीवन का वास्तविक रूप मानकर जोशी जी चित्रित किया करते हैं।"

किसी तथ्य को पूर्णतया भ्रामक रंग में रंगकर, उसे एकदम विकृत, कुटिल और सत्यलेश शून्य रूप देकर गोष्ठी द्वारा उसका प्रचार करना आधुनिक राजनीतिक युग में किसी विशेष दलगत स्वार्थ की सिद्धि का एक प्रधान उपाय समझा जाता है, यह मैं मानता हूँ। नात्सी प्रचार-मंत्री गोबेल्स ने इसी तरह के उपायों से रूस के विरुद्ध प्रचार-कार्य किया था। पर प्रकाशचंद्र जी मेरा विरोध करने के उद्देश्य से इसी प्रकार के उपाय को काम में लाकर अपने दल का कौन विशेष स्वार्थ सिद्ध करने की आशा रखते हैं, यह मेरी समझ के परे है।

मेरा ऐसा विश्वास था कि मेरा घोर से घोर शत्रु भी मुझ पर यह इलजाम नहीं लगा सकेगा कि मैंने उन्हीं "विकृत और विरूप प्राणियों" (अर्थात् वेश्याओं) की "कुत्सित प्रेम-कथाओं को मानव-जीवन का वास्तविक रूप माना है।" पर मेरे मित्र प्रकाशचन्द्र जी की इस बेधड़क बात ने मुझे अपने इस विश्वास के सम्बन्ध में कुछ समय के लिये सशंकित कर दिया। उनके कथन का अर्थ यह ध्वनि रखता है कि मैं वेश्या-वृत्ति को जीवन की एक आदर्श और अनुकरणीय वृत्ति मानता हूँ!

प्रकाशचंद्र जी किस मनोवृत्ति और किस उद्देश्य से प्रेरित होकर इस तरह की बात कह बैठे हैं, इसकी छानबीन न करके, मैं पाठकों के आगे 'प्रेत और छाया' के 'विकृत और विरूप प्राणियों' की प्रेम कथा का सार रखने की धृष्टता करना चाहता हूँ।

'प्रेत और छाया' की नायिका मंजरी जीवन की घोरतम विवशताओं से ग्रस्त होकर, अपनी और अपनी अंधी माँ के लिए एक

प्रकाशचन्द्र जी को इस बात की बड़ी शिकायत है कि 'प्रेत और छाया' के पात्र और पात्रियाँ "कलुषित और निम्न स्तर" के प्राणी हैं। यदि द्विवेदी-युग का कोई आलोचक इस तरह की शिकायत करता, तो शायद रूढ़िवादी और 'प्युरिटन' आलोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तक उसकी बात पर हँसते। तब क्या यह परम आश्चर्य की बात नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्स के कट्टर उपासक श्रीयुत प्रकाशचंद्र जी गुप्त "कलुषित और निम्नस्तर" के प्राणियों के चरित्र चित्रण को अवांछनीय समझें? अपनी इस अस्वाभाविक उक्ति से स्वयं प्रकाशचंद्र जी सशंकित हैं, इसलिये उन्हें कुछ सोचने के बाद फुट-नोट में यह स्वीकार करना पड़ा है कि कुछ ही समय पहले उन्होंने जिस "विरूप और विकृत प्राणी" को कोसना शुरू कर दिया था वह समाज के शोषित जीवों में सब से अधिक दयनीय है। इसका कारण यह है कि उन्हें रूसी लेखक कुप्रिन की याद आ गयी! पर किसी रूसी लेखक को वेश्या-जीवन पर प्रकाश डालने का जो अधिकार प्राप्त है वह, प्रकाशचन्द्र जी की राय में, किसी हिंदी लेखक को प्राप्त नहीं हो सकता। रूसी लेखक की याद आने पर जो नारी 'दयनीय और शोषित' बन जाती है, वही हिन्दी लेखक की आलोचना करते समय "कलुषित और निम्नस्तर की विरूप, विकृत और कुत्सित प्राणी" के

रूप में बदल जाती है। प्रकाशचन्द्र जी के फुट-नोट से उनके मूल लेख में कही गई बातों की संगति कहाँ पर है, यह वही बता सकते हैं। जिस पर तुर्रा यह है कि फुट-नोट लिखने के बाद भी वह फिर वही प्रश्न करते हैं—"क्या समाज के निम्नतम स्तरों के लिये गये ये प्राणी ही जीवन के ध्रुव सत्य हैं?" मैं पलट में प्रश्न करना चाहता हूँ—"तो क्या 'उच्चतम स्तरों' से लिये गये अर्थ विलासी बुद्धि-विलासी अथवा राजनीति-विलासी प्राणी ही जीवन के ध्रुव सत्य हैं?"

असल बात यह है कि हमारे कुछ नये आलोचकगण शोषित वर्ग के पृष्ठ-पोषक बनने का नारा चाहे कितने ही जोरों से बुलंद क्यों न करें, पर उनके भीतर के 'बूर्जवा' संस्कार उन्हें लोहे की सैकड़ों दीवारों के भीतर कैद की गई नारी जाति के विद्रोह के प्रति सहानुभूतिशील नहीं होने देते। उनका अंतर्मन इस विद्रोह का पूर्ण प्रतिरोध करता है। पर चूंकि स्पष्ट शब्दों में उस विद्रोह के खिलाफ कुछ कहने का साहस उन्हें नहीं होता, इसलिये नाना छल-छद्मों से वे उस विद्रोह के प्रचारक लेखकों की निंदा करने लगते हैं, और कम्यूनिज्म के पोषक होते हुए भी ऐसे लेखकों की निंदा के उद्देश्य से अपने पक्ष को और अधिक प्रबल करने की चेष्टा में गांधीवाद की भी दुहाई देने लग जाते हैं और 'तपस्या' का माहात्म्य घोषित करने लगते हैं। उस तपस्या से भी उनका आशय किसी कल्पित कला-लोक की तापसी की तपस्या से रहता होगा, क्योंकि जो नारी कठोर वास्तविकता के संघर्ष में आने पर भी क्रूर शोषक और विकृत समाज की दुर्लंघ्य बाधाओं को पार करने का प्रयास निरंतर करती रहती है उसकी जीवन-व्यापी साधना को वे तपस्या नहीं मानते।

पर अब वह समय आ रहा है कि आप युगों के अन्धकार में बद्ध, सदियों के क्रूर निर्यातन से पीड़ित नारी-आत्मा के विद्रोह की आवाज को किसी भी छल-छद्म से दबाने में समर्थ नहीं हो पावेंगे। उनकी अन्तरात्मा की वह फुफकारती हुई पुकार उस अंधकार-लोक की प्रत्येक कंदरा में गूँजती हुई प्रचंड विस्फोटकों के साथ बाहर के विश्व में निश्चित रूप से फूटने के लक्षण प्रकट कर रही है। और साथ ही अपने चारों ओर की काली-काली दीवारों को तोड़ने और फोड़ने में भी उसका अन्तर्विद्रोह निकट भविष्य में सफल होकर ही रहेगा। पिछले कलाकारों की तरह दलित नारी के प्रति केवल सहानुभूति दिखाने से ही अब काम नहीं चलेगा। शीघ्र ही वह समय आ

रहा है, तब कलाकारों की श्रेष्ठता की परख एक-मात्र इस बात से होगी कि नारी-आत्मा के अंतर में बीज-रूप से छिपी हुई विद्रोह की चिनगारी को कौन कितनी अधिक तीव्रता से प्रचंड अग्नि के रूप में प्रज्वलित करने में समर्थ होता है। पीड़ित, शोषित और (प्रकाशचंद्र जी के शब्दों में, 'कलुषित' नारी के प्रति समवेदना और सहानुभूति जगाने वाले बुद्धि-विलासी लेखकों की काव्यात्मक करुणा की कोई आवश्यकता अब इस युग में नहीं है। इस युग में तो नारी को कठोरतम परिस्थितियों में अत्यन्त कठिन और निर्मम होकर केवल अपने अंतर्विद्रोह के बल से खड़ा होने के लिये उकसाने वाले यथार्थवादी आदर्शवादियों की प्रेरणा आवश्यक है। इस वास्तविक रूप से शोषित वर्ग को (चाहे वह वेश्या हो, चाहे अर्द्धवेश्या चाहे गृहस्थ नारी) न तो राजनीतिक मतवादों के संघर्ष के नीचे उपेक्षित रूप से दबा देने से काम चलेगा, और न केवल उसके प्रति काव्यात्मक समवेदना के करुण छींटे डालने से। उसमें आत्म-विलासी पुरुष जाति के विरुद्ध विद्रोह के बीज बोकर उसे आत्म-स्वातंत्र्य, आत्म-सम्मान और आत्म-अवलम्बन की जीवित और व्यावहारिक शिक्षा देनी होगी। यही 'प्रेत और छाया' का संदेश है। इसकी सम्पूर्ण उपेक्षा करके प्रकाशचंद्र जी ने मेरे साथ जो अन्याय किया है, उसकी ओर उनका और पाठकों का ध्यान दिलाने के लिये ही इस लेख की अवतारणा की गयी है।

'प्रेत और छाया' की भूमिका

हमारे द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी प्रगतिवादियों का कहना है कि जो रचना अंतर्जीवन से किसी भी स्वरूप से सम्बन्ध रखती है वह किसी प्रकार भी प्रगतिशील नहीं मानी जा सकती। ये लोग मनुष्य के अंतर्जीवन को बाह्य जीवन की केवल प्रतिच्छाया समझते हैं, उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। उनकी धारणा है कि बाह्य-जीवन की परिस्थितियाँ आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन के साथ ही साथ जिन-जिन रूपों में बदलती जाती हैं, अंतर्जीवन के स्वरूप भी उन्हीं के अनुसार बदलते चले जाते हैं।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बाह्य-जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों का प्रभाव अंतर्जीवन पर भी अधिकांश अंशों में पड़ता रहता है। पर केवल इतने-से कारण से यह मान लेना कि उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, और एकमात्र आर्थिक व्यवस्था ही बाह्य-जीवन की ही तरह अंतर्जीवन की भी परिचालिका है, क्या अत्यंत संकीर्ण तथा एकांगीय दृष्टिकोण नहीं है? मनोविज्ञान तथा जीव-विज्ञान (अध्यात्म-विज्ञान को मैं सकारण छोड़ देता हूँ)—इन दोनों की दृष्टियों से यह मत बिलकुल छिछला और उपहासास्पद सिद्ध होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने अत्यन्त परिपुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि मानव-मन के भीतर की अतल गहराई में एक ऐसा गहन रहस्यमय, अपार अपरिमित जगत् वर्तमान है जिसकी अपनी एक निजी स्वतंत्र सत्ता है। यह जगत् किसी भी बाहरी—आर्थिक अथवा सामाजिक अनुशासन से परिचालित नहीं होता। आदि-काल से—जब मनुष्य इस पृथ्वी पर पशु की अवस्था में चार पाँवों के बल चला-फिरा करता था तब से, बल्कि उससे भी पहले से—लेकर आज तक के विकास-काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्य नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व-मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं। उनमें समयानुक्रम से (और सृष्टि के उसी अज्ञात, रहस्यमय नियम के क्रम से) संस्कार—परिशोधन—होते चले गये। पर जिन प्रारंभिक वृत्तियों का संस्कार हुआ वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना-लोक में

संचित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ पाशवि-कित वृत्तियों का भी पुनः परिशोधन हुआ, और इस नये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप से संचित हो गईं। यह क्रम आज तक बराबर प्रचलित होता चला गया है। इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु-प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने सचेतन मन में अवश्य सफेदपोशी कर ली है। पर जिस पर्दे पर वह सफेदपोशी की गई है वह इतना झीना है कि जरा-जरा-सी बात से वह फट जाता है, और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु-प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फोटित होने लगती हैं। इन मूल (पशु-प्रवृत्तियों को जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे को दबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर को उछाल मारने लगती हैं।

अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी ये प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक (और, फलस्वरूप, सामूहिक) मानव के आचरणों, तथा पारिवारिक और सामाजिक संगठनों को किस हद तक युगों से परिचालित करती आई हैं और आज भी कर रही हैं, इसका यदि खाता तैयार किया जाय तो आश्चर्य से स्तब्ध रह जाना पड़ेगा। आज का मनोवैज्ञानिक जब गहराई से सोचता है तो उसे यहाँ तक विश्वास करना पड़ता है कि समय-समय में जिन विभिन्न आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रकोप या प्रताप संसार में छाया है, उनके मूल में अज्ञान चेतना के भीतर अज्ञात रूप से ही कुलबुलाने वाली असंख्य रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ अथवा संस्कार हैं। सामंत युग में वीर-पूजा—'हीरो-वॉशप'—की भावना से विशाल जनता ओत-प्रोत क्यों रहती थी? उस युग में दासों पर अपरिमित अत्याचार होते थे, यह बात मैं मानता हूँ। पर साथ ही असंख्य दास अपने प्रभुओं के हित के लिये, बिना किसी विवशता के, पूर्ण स्वेच्छा से—केवल-मात्र पलकों के इशारे से, अपने प्राणों की बलि दे दिया करते थे, इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। ऐसा क्यों होता था? आप कहेंगे कि यह सामंतों के शिक्षित पिट्ठुओं के प्रचार-कार्य का फल था—उन्होंने अपने कुटिल प्रचार द्वारा अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित जनता में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया था कि अपने प्रभु के कार्य के लिये अपने प्राण दे देना महान पुण्य कार्य है।

यह मैंने माना। पर प्रश्न यह है कि कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के द्वारा किया गया इस प्रकार का प्रचार-कार्य इतनी बड़ी जनता में इतनी आसानी से क्यों कारगर हो गया? क्या अशिक्षित जनता में सभी प्रकार के प्रचार कार्यों का प्रभाव सहज में पड़ जाता है? यदि ऐसा होता तो आज भी, जब कि बीसवीं शताब्दी आधी बीत चुकी है, हम असंख्य हिंदू जनता को रेलों की भयंकर असुविधा के बावजूद लाखों की संख्या में प्रयाग, काशी, हरद्वार आदि स्थानों में पुण्य-संचय के प्रलोभन से विशेष विशेष अवसरों पर गंगा-स्नान के लिये भीड़ लगाते हुए न देखते। वर्षों से शिक्षित जनता द्वारा यह प्रचार किया जा रहा है कि गङ्गा-स्नान सम्बन्धी मेले [illegible] होते हैं, और वास्तव में कोई पुण्य उनके द्वारा संचित नहीं किया जा सकता। तथापि इस तरह के प्रचारों को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए हमारी अशिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित जनता उन्हीं स्थानों में महामारी फैलने की आशंका के बावजूद भीड़ लगाती रहती है।

असल में केवल वही प्रचार-कार्य जनता में आसानी से कारगर हो सकता है जो जनता के अवचेतन मन में निहित किसी विशेष प्रवृत्ति को उभाड़ता है और तब उसे स्वैच्छिक रूप देता है। इस प्रवृत्ति का जनता के अवचेतन मन में बीज-रूप से निहित होने की शर्त अनिवार्य है। वीर-पूजा की वृत्ति आदिम बर्बर-काल से मनुष्य के मन में पाई जा चुकी है। अब वह अवचेतन मन का एक संस्कार बन गई है, और इस बीसवीं शताब्दी में मार्क्सियन सिद्धान्तों द्वारा प्रभावित जनता में भी वह पूर्ण रूप से वर्तमान है। अंतर केवल यह है कि सामंतवादी युग में दास लोग अपने लुटेरे महाप्रभुओं को वीर मान कर उनकी पूजा करते थे या अपनी वीर-पूजा के संस्कार को धार्मिक रूप देकर पौराणिक अवतारों अथवा धार्मिक नेताओं की महावीरता के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते थे, और आज के वैज्ञानिक और 'बुद्धिवादी' युग में सामाजिक क्रांतिकारियों, राजनीतिक डिक्टेटरों अथवा महान नेताओं की पूजा नये और सुसंस्कृत रूप से की जाती है। केवल इतना ही नहीं, उन डिक्टेटरों अथवा 'महान नेताओं' के प्रति आज भी विशाल जन-समुदाय द्वारा वैसा ही कट्टर भक्ति-भाव प्रदर्शित किया जाता है जैसा राम-अथवा कृष्ण-भक्ति के युगों में। मध्ययुग में हमारे यहाँ कट्टर शैवों तथा कट्टर वैष्णवों के बीच अक्सर संघर्ष के फलस्वरूप जो सिर-फुटौवल होती रहती थी उसी का सुसंस्कृत रूप आज भी, उदा-

हरण के लिये गाँधीवादियों अथवा मार्क्सवादियों के बीच देखा जा सकता है।

मानव-जाति के सामूहिक अवचेतन मन में निहित आदिमकालीन प्रवृत्तियाँ आज भी पूर्ण रूप से—नये-नये स्वरूपों में—बेमालूम ढंग से अथवा स्पष्टतः, अपना कार्य करती चली जाती हैं, और राष्ट्रों के उत्थान पतनों, अंतर्राष्ट्रीय क्रांतियों तथा विश्वव्यापी युद्धों के पीछे मूलतः उन्हीं निहित प्रवृत्तियों की अज्ञात रहस्यमयी शक्ति का चक्र चलता रहता है, इस बात के असंख्य प्रमाण मिल सकते हैं। फ्रांस की राज्य-क्रांति में सामंतवादी शासन-चक्र से उकतायी हुई जनता प्रजातंत्र-वाद के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ी थी, पर कुछ कदम आगे बढ़ते ही वह स्वयं समस्त प्रजातन्त्रवादी नेताओं को ध्वस्त करके नेपोलियन को डिक्टेटर के रूप में सिर पर उठाने के लिये उतावली हो उठी, जिसके फलस्वरूप फ्रांस एक जबर्दस्त साम्राज्यवादी राष्ट्र के रूप में परिणत हो गया। किसी शक्तिशाली डिक्टेटर की अधीनता भक्ति-भाव से स्वीकार करने की प्रवृत्ति मानवीय जनता की अज्ञात चेतना में भयंकर सत्कारिता के साथ वर्तमान है। कोई भी राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था न तो उस प्रवृत्ति को जमाती है न उखाड़ ही पाती है। अर्थात् उसकी वह अन्तः प्रवृत्ति बाह्य-जीवन से बिलकुल स्वतंत्र रूप में अपनी सत्ता रखती है। जर्मनी में हिटलर ने इस प्रवृत्ति को नये सिरे से जमाया नहीं है, बल्कि आदिम काल से बीजरूप में जमे हुए उस संस्कार को केवल उभाड़ा है, उभाड़ कर उससे अनुचित लाभ उठाना चाहा है। विगत बीस वर्षों से यूरोप में डिक्टेटरों का जो बोल बाला रहा है वह कोई नयी बात नहीं हुई है, बल्कि उसी मूल प्रवृत्ति का नये रूपों में प्रत्यावर्तन हुआ है जिसने फिरौन कालीन मिस्र और प्राचीन एसीरिया तथा बेबिलोनिया के तानाशाहों को उत्पन्न किया था। जनता के भीतर युग-युगों से पूजा की जो भावना निहित है उसकी पूर्ति के लिये एक ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हो जाता है जो नूतन डिक्टेटरों को जन्म देता है। जनता बाहर से कैसी ही प्रगतिशील क्यों न बन जाय, उसके भीतर अंध-विश्वास और अंध-पूजा की भावना बराबर बनी रहती है। लेनिन ने कभी नहीं चाहा कि उसकी पूजा हो, पर उसके जीवित-काल में ही रूस की जनता उसे अवतार के रूप में पूजने लगी थी, और बाद में उसकी मूर्तियों का तांता लग गया और उसकी कब्र के ऊपर वार्षिक उत्सव मनाया जाने लगा।

इसी प्रकार पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के विस्तार के पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण छिपे हुए हैं। मनुष्य के सामूहिक अवचेतन मन के भीतर दबी हुई कुछ विशेष प्रवृत्तियों का सामूहिक उभार इनके विकास का कारण है, यह बात बड़ी आसानी से सिद्ध की जा सकती है। इन सब बातों से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि केवल बाह्य-जीवन की सामाजिक-आर्थिक-व्यवस्था और उसके परिणाम-स्वरूप वर्ग-संघर्ष को ही बाहरी और भीतरी जीवन की एकमात्र परिचालिका-शक्ति मानना, और केवल उसी से सम्बन्ध रखनेवाले तत्वों की खोज के पथ को 'प्रगतिशीलता' का एकमात्र पथ बताना घोर भ्रममूलक है। वर्तमान महायुद्ध ने हमें पहले से भी अधिक निश्चित रूप से यह जता दिया है कि बाह्य-जगत् की समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों और व्यवस्थाओं का संचालन मूल रूप से सामूहिक मानव की सामूहिक अज्ञात चेतना के भीतर दबे पड़े अनन्त संस्कारों के ही प्रस्फुटन और विस्फोट द्वारा होता है। महायुद्ध की समाप्ति के बाद, इस दृष्टिकोण पर सुस्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ेगा, इस बात की पूरी सम्भावना है।

यदि प्रगति को अंतर्जीवन के प्रकाश में न देखा जाय तो वास्तव में प्रगति का सारा अर्थ ही अर्थ-हीन हो जाता है। वर्तमान महायुद्ध इस बात का प्रमाण है कि बाह्य-जीवन की एकांगीन [illegible] 'प्रगति' मानव के सामूहिक अवचेतन मन की अति प्राचीन पाशविक प्रवृत्तियों के संघर्ष में आकर घोरतम प्रतिक्रियात्मक और परम विनाशकारी सामूहिक विस्फोटों के रूप में फूट पड़ती है। वर्तमान युग में मानव-समाज के उन छोटे-छोटे दलों ने महा, [illegible] रूप धारण कर लिया है। सामूहिक मानव की [illegible], [illegible], कालांतक पाशविकता के जो प्रत्यक्ष प्रमाण आज बीसवीं शताब्दी के प्रगतिशीलतम युग में मिल रहे हैं, संसार के किसी भी विगत प्रतिक्रियात्मक युग में क्या उसकी तुलना खोजी जा सकती है? एक विराट देश में—रूस में—मार्क्सियन प्रगतिवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा के बाद भी वह दृष्टान्त संसार के अन्यान्य 'सभ्यतम' राष्ट्रों में अनुकरणीय क्यों नहीं हो पाया? स्वयं रूस को एक पूर्ण युग के अनुभव के बाद अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद के आदर्श को क्यों ताक पर रख देना पड़ा? युग-युगों से संचित मानव का सारा भौतिक ज्ञान-विज्ञान क्यों 'फासिज्म' के पोषक एक से अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में सामूहिक मरण-

लीला की अकथनीय विराट योजना के रूप में संघटित हो उठा ? और इस बात की क्या गारंटी है कि २५-३० वर्ष बाद इस महाघाती युद्ध से भी सैकड़ों, बल्कि हजारों गुना अधिक विध्वंसक और प्रलयंकर युद्ध बीसवीं सदी के समाप्त होने के पहले ही सारे संसार को महा श्मशान में परिणत न कर डालेगा ? क्योंकि तब तक निश्चय ही, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के क्रम से. आधुनिक विज्ञान, जो कि सबसे बड़ा विनाश-शास्त्र है, नाश के ऐसे-ऐसे मृत्युवाहक अस्त्रों का आविष्कार कर लेगा जिनकी तुलना में आज के घोर विनाशक अस्त्र भी अत्यन्त तुच्छ लगेंगे। यदि आप यह समझें कि तब तक आप मार्क्सियन प्रगतिवाद का प्रचार सारे विश्व में करके संसार को स्वर्ग बना डालेंगे, तो आप घोर भ्रम में पड़े हुए हैं। १६१४-१८ के युद्ध में भी कुछ अबोध आशा-वादी इसी प्रकार की कल्पना किया करते थे। आप को जान लेना चाहिये कि २५-३० वर्ष बाद एक और महानाशक महायुद्ध अनिवार्य है—यदि भौतिक विज्ञानवाद की प्रगति इसी रूप में रही और अंतर्वि-ज्ञानवाद की खिल्ली लोग इसी रूप में उड़ाते रहे जिस रूप में हमारे यहाँ के मार्क्सियन प्रगतिवादी उड़ाया करते हैं।

मैं मानता हूँ कि द्वन्द्वात्मक भौतिक-विज्ञानवाद के तत्त्वों से आप विश्व-शान्ति और विश्व-समता के सिद्धान्तों को गणित के प्रश्नों की तरह निश्चित प्रमाणों सहित सिद्ध कर सकते हैं। पर याद रखिये कि मानव-जीवन गणित नहीं है। मानव की अंतश्चेतना के अगाध अतल में तिमिंगल की तरह एकच्छत्र शक्ति प्राप्त करने की जो दुर्दान्त और घातक लालसा आदि काल से डेरा जमाये हुए है, जो लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, क्रूरता और घोर स्वार्थ-परायणता आदि की असंख्य पशु-प्रवृत्तियाँ इतने युगों के विवर्तन के बाद भी आज तक सुदृढ़ और सुनिश्चित रूप से स्थिर हैं, उनका इलाज क्या आप के 'डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म' से उद्भूत बाह्य-जीवन-सम्बन्धी प्रगति कर सकेगी ?

विश्व में तब तक अपेक्षाकृत (पूरी नहीं) शान्ति की स्थापना असंभव है जब तक मानव-समाज अंतर्जीवन को उतना ही (बल्कि अधिक) महत्त्व नहीं देगा कि जितना कि बाह्य-जीवन को। क्योंकि इस बात के निश्चित प्रमाण जीवन की गहराई में दृष्टि डालने वाले मनो-वैज्ञानिक दे चुके हैं कि सामूहिक रूप से मानव के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के युग-युग में परिवर्तित होने वाले रूप उसकी सामूहिक अज्ञान-चेतना में निहित प्रवृत्तियों के रहस्यमय

परिचालन से बनते और बिगड़ते हैं। इसलिए मानवता के लिये सबसे कल्याणकर उपाय यह है कि वह अपनी उस अज्ञात चेतना के गहरे स्तरों में प्रवेश करके उसके भीतर जड़ जमाने वाली अविकसित पशु-प्रवृत्तियों की छान-बीन और विश्लेषण करे, और उस पातालपुरी की नारकीय अन्ध-कारा में बद्ध उन संस्कारों को यथासंभव स्वीकार करके ऐसी तरकीब निकालने का प्रयत्न करे जिससे गलत रास्ते से होकर उन बद्ध प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट न हो। बल्कि उचित मार्गों से उनका नियमित प्रस्फुटन हो। न उन सामूहिक प्रवृत्तियों को दबाने से काम चलेगा, न उन्हें अस्वीकार करने से और न अज्ञात रूप से उनका आकस्मिक विस्फोट होने देने से।

इस विचित्र और स्थान-काल से मेल न खानेवाली भूमिका द्वारा मैंने साहित्य-सर्जना को केवल वाह्य-संघर्षमय जीवन के चित्रण का माध्यम मानने वाले नवीन आलोचकों को अपने साहित्य तथा जीवन-संबंधी दृष्टिकोण से परिचित कराने का भोंड़ा प्रयास किया है। मेरा यह ध्रुव निश्चित विश्वास है कि व्यक्तियों के अन्तर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक वाह्य-जीवन के रूपकों के रूपों में—विश्वव्यापी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अन्तर्गत बनकर—प्रकट होते रहते हैं। यह तथ्य इस समय हमारे तरुण आलोचकों को घोर अविश्वसनीय तथा उपहासास्पद प्रतीत हो सकता है। पर मैं निश्चित विश्वास के साथ यह कहना चाहता हूं कि भावी संसार—युद्धोत्तर-कालीन संसार—को यह महान सत्य स्वीकार करना ही होगा, यदि वह फिर एक बार उस दूसरे कल्पांतक महायुद्ध को नहीं बुलाना चाहता जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ।

अतएव मेरे वर्तमान उन्यास में जिन असाधारण चरित्रों के अंतर-जीवन—वल्कि अन्तरतर और अन्तरतम जीवन—के (आत्मघाती अथवा आत्म-उद्‌बोधनकारी, दोनों प्रकार के) द्वन्द्व-चक्रों का वैश्लेपिक चित्रण किया गया है, उनके सम्बन्ध में आप चाहे और कुछ सोचें, उन्हें केवल-मात्र पारिवारिक जीवन की व्यक्तिगत समस्या मानकर उनकी अवहेलना न करें, यह आप लोगों से मेरा अनुरोध है। मेरे उपन्यास में बहुत-से कलात्मक दोप हैं, और उन दोपों के लिये मेरी निन्दा करने का पूरा अधिकार आपको है। पर यदि आप इस बात के लिये मुझे दोपी ठहरावें कि मैंने केवल व्यक्तिगत तथा पारिवारिक

समस्याओं को अपना कर प्रगति के पथ की उपेक्षा की है, तो मैं यह दोष स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ। आप यह निश्चित रूप से समझे रखें कि 'व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ' ही संसार के महान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चक्रों के बीज-रूप—बल्कि मूलगत प्रतीक और आधारभूत सिद्धांत—हैं। जब तक आप इन 'व्यक्तिगत समस्याओं' के भीतर निहित रूपकों में विश्व के विराट वाह्य-जीवन-चक्र की समस्याओं को देखने की दृष्टि नहीं रखेंगे तब तक आप न तो यथार्थ प्रगति के रूप से परिचित हो सकते हैं, न साहित्य-कला के मूल प्राणों का विकास आपके आगे भासित हो सकता है।

मनुष्य की सामूहिक अज्ञात-चेतना आदि काल से लेकर आज तक समस्त मानवीय कलाओं का मूल उत्स रही है। फिर भी आज की कला ने हजारों वर्षों के बाद एक निश्चित प्रगति की ओर पग बढ़ाया है। आज तक की कला अज्ञात चेतना के रहस्यमय लोक से उत्थित होती थी, सन्देह नहीं; पर कलाकारों को साधारणतः इस बात का पता नहीं रहता था कि वे अपने सचेत मन पर उतरने वाले कलात्मक तत्वों को कहाँ से प्राप्त कर रहे हैं और किस उद्देश्य से वे तत्व उन्हें वेबस ढकेले लिये जा रहे हैं। केवल अपनी अंध-प्रज्ञा ('इन्टवीशन') की नौका पर चढ़ कर वे अन्ध-विश्वास के साथ अपनी ज्ञात तथा अज्ञात चेतना के बीच के महासागर में उसे मुक्त भाव से छोड़ दिया करते थे। पर आज का कलाकार जानता है कि मानव की सामूहिक अज्ञात चेतना के किन तत्त्वों को लेकर वह विशेष उद्देश्य से अपनी कला का निर्माण कर रहा है। वह उन तत्त्वों का पूर्ण विश्लेषण करके उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि से परिचित और उनके सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक रहता है। और यही कारण है कि वह अन्तर्जीवन-लोक की गहन प्रवृत्तियों का निश्चित स्वरूप हमें बता कर, वाह्य-जीवन-चक्र से उनकी सुसंगति का मार्ग हमारे लिये निर्देशित कर देता है। कला की कल्याणमयी प्रगति का इससे अधिक स्वस्थ और उन्नत आदर्श-मूलक लक्ष्य दूसरा नहीं हो सकता। स्मरण रहे कि 'आज के कलाकार' से मेरा आशय यह नहीं है कि संसार में आज जितने भी कलाकार हैं वे इसी पथ को अपनाये हुए हैं। अज्ञात चेतना की असंख्य उलझनों में उलझे हुए कलाकारों की संख्या संसार में अभी काफी से ज्यादा है। पर यदि युग के कुछ गिने-चुने प्रतिनिधि अग्रणी कलाकार

भी इस पथ की ओर अग्रसर हुए हों, तो यह भावी पथ-प्रदर्शन के लिये यथेष्ट है।

मैं फिर एक बार कहना चाहता हूँ—भावी युग को निश्चय ही यह मानना पड़ेगा कि बाह्य और अन्तःस्थित, सभी प्रकार के जीवन-चक्रों की मूल परिचालिका शक्ति है विश्व-मानव की सामूहिक अज्ञात-चेतना। बाहरी जीवन की प्रगति (जिसमें मार्क्सियन सिद्धान्तों के अनुसार होने वाली प्रगति भी शामिल है) अपने आप में महत्वपूर्ण है, यह मैं मानता हूँ, केवल मानता ही नहीं हूँ, बल्कि 'अंडरलाइन' करके यह बात कहना चाहता हूँ। पर अन्तर्जीवन की प्रगति के साथ सामंजस्य स्थापित हुए बिना यह बाह्य प्रगति शून्य में स्थापित किये गये हवाई किलों की तरह ही निष्फल सिद्ध होगी—जैसा कि आज तक होती आई है। अन्तर्जीवन और अज्ञात-चेतना से सम्बन्धित रचनाओं की उपेक्षा करने से काम न चलेगा।

अज्ञात-चेतना का मनोविज्ञान अभी तक शैशव अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाया है। यूरोप के मनोवैज्ञानिकों ने इस ओर कदम बढ़ाया है पर अभी तक वे प्रारंभिक सीढ़ी भी तय नहीं कर पाये हैं। मेरे मन में यह दृढ़ विश्वास है कि यह सब विज्ञानों का मूलगत विज्ञान भारतीय क्षेत्र में ही चरम उन्नति प्राप्त कर सकेगा। अन्तश्चेतना की रहस्यमयता की ओर भारतीय दार्शनिकों का झुकाव उपनिषदों के युग से लेकर आज तक बराबर जारी रहा है। उपनिषदों के युग में हमने उस अगाध रहस्यमयता का महान् आभास पाया है। अब उसी रहस्योन्मुखता की प्रवृत्ति को नया रूप देकर अन्तर्दृष्टि और विवेक के पूर्ण समन्वय से हम भारतीयों को इस तथ्य के अनुसन्धान में जुट जाना होगा कि अज्ञात-चेतना के पाताल-लोक में स्थित अतल नरक के विश्लेषण द्वारा बाह्य-जीवन-तत्वों के साथ उन नारकीय (किन्तु मूल) जीवन-तत्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित करके मानव-जगत में किन उपायों से आपेक्षिक स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है। इस ओर का कोई भी प्रयास, चाहे वह कैसा ही क्षीणतम और असंख्य दोषों से पूर्ण क्यों न हो, उपेक्षणीय नहीं होना चाहिये—स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

हिन्दी के आलोचना-साहित्य का भविष्य

किसी एक विश्व-विख्यात विद्वान ने अत्यन्त क्षोभ के साथ कहा है कि महान प्रतिभापूर्ण कृतियों को अपने प्रचार के लिए ऐसे व्यक्तियों का मुँह ताकना पड़ता है, जिन्होंने अपने जीवन में एक भी महत्वपूर्ण कृति का निर्माण करने में सफलता नहीं पाई, और जो विद्वत्ता का बड़ा-से-बड़ा सर्टिफिकेट प्राप्त कर लेने पर भी किसी वास्तविक अर्थ में प्रतिभाशाली लेखक के उच्च तथा गहन बौद्धिक और मानसिक स्तर तक पहुँचने में एकदम असमर्थ हैं। वास्तव में संसार के सर्वश्रेष्ठ मनीषियों के लौकिक जीवन की प्रगति में यह एक बहुत बड़ी बाधा रही है। यह बात अविवादास्पद है कि कालिदास तथा शेक्सपियर के महान से महान आलोचक भी उनके बौद्धिक शिखर की तलहटी से आगे बढ़ने में कभी समर्थ नहीं रहे हैं। जो आलोचक उनके पदतल तक पहुँच पाए हैं, वे बड़े सौभाग्यशाली रहे हैं; क्योंकि उनके अधिकांश आलोचक उनके पदतल तक पहुँचना तो दूर, उसका (उनके पदतल का) आभास तक नहीं पा सके हैं—हालांकि वे अपनी अहम्मन्यतावश बराबर यह डींग हाँकते रहे हैं कि कालिदास या शेक्सपियर को उन्होंने जिस हद तक समझा है, उस हद तक कोई दूसरा नहीं समझ पाया! इस प्रचण्ड परिहास का, इस विकट बौद्धिक विडम्बना का शिकार प्राचीन काल से लेकर आज तक सभी श्रेष्ठ प्रतिभाशाली व्यक्तियों को बनना पड़ा है।

सभी युगों के प्रायः सभी प्रतिभावानों को (व्यक्त या अव्यक्त रूप से) यह शिकायत रही है कि उन्हें ठीक तरह से समझने में दुनिया भूल कर रही है; और उनके जो आलोचक (चाहे वे उनके प्रशंसक हों या निन्दक) सर्वज्ञ होने का ढोल पीट रहे हैं, उनकी अज्ञता का पारावार नहीं है। तथापि साधारण जनता उन्हीं ज्ञानलवदुर्विदग्ध आलोचकों द्वारा निर्देशित पथ को यथार्थ समझ कर उसे अपनाने के लिए बाध्य होती है। ये आलोचक संसार के प्रत्येक देश के, प्रत्येक युग के साहित्य-क्षेत्र को अपने थोथे, कृत्रिम और अवास्तविक सिद्धान्तों के आलजाल से इस प्रकार छाए रहते हैं कि किसी भी नवोदित प्रतिभाशाली साहित्य-स्रष्टा के लिये उस सघन झाड़खंड के बीच से अपने लिये रास्ता निकालना एक जटिल समस्या बन जाता है। साहित्य की मिट्टी के भीतर ही भीतर खनन करने वाले इन परोपजीवी जन्तुओं

की कृपा से ऐसा सुरक्षित स्थान बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होता है, जहाँ नवोदित प्रतिभाशाली कलाकार अपने बीजों को बिखेर कर उन्हें स्वस्थ और सुपुष्ट पौदों के रूप में पनपने की सुविधा प्रदान कर सके।

इन्हीं सर्वव्यापी आलोचकों द्वारा साहित्य-सम्बन्धी असंतुलित प्रचार का यह फल होता है कि जब कोई वास्तविक अर्थ में महान कृति किसी नवीन (किन्तु प्रतिभावान) लेखक की लेखनी से निकल कर साहित्यिक जनता के सामने आती है, तब वह बहुत-सी ऐसी निकम्मी रचनाओं के बीच में अपने को पाती है, जो पूर्वोक्त आलोचकों द्वारा "सर्वश्रेष्ठ', 'महान' और 'युगान्तरकारी' घोषित की गई होती हैं। ऐसी परिस्थिति में उस वास्तविक अर्थ में महान कृति के लिए साहित्य संसार में तत्काल अपनी सत्ता जमा लेना असम्भव है। इस कारण पर तनिक मनोविज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय। मानव-मन (चाहे वह वैयक्तिक हो, चाहे सामूहिक) सदा रूढ़िवादी होता है। साहित्य-क्षेत्र में भी इस नियम में कोई परिवर्त्तन नहीं दिखाई देता। कोई भी नया आदर्श वर्षों के विरोध, प्रतिरोध और संघर्ष के बाद ही साहित्य-जगत में मान्य हो पाता है। उदाहरण के लिये, हमारे यहाँ के छाया-वाद ही को लीजिये। आरम्भ में जब वह काव्य-क्षेत्र में एक नई भाव-धारा, एक नई शैली, एक नया रंग और एक नया ढंग लेकर आया था, तब उसे चारों ओर से कैसे बड़े तूफानी विरोध का सामना करना पड़ा था! तत्कालीन बड़े-बड़े खुर्राट आलोचकों ने उसका कितना बड़ा परिहास और विद्रूप किया था औ उसकी कैसी घोर अवज्ञा की थी, यह साहित्य-सेवियों से छिपा नहीं है। पर चूँकि छायावाद एक वास्तविक और गहन अन्तरीण शक्ति के बीज अपने साथ लाया था, इसलिये चारों ओर के विरोधी प्रयत्न उसकी प्रगति को रोकने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए। सामाजिक आदर्शवाद की दृष्टि से छायावादी भाव-धारा की कमियों की आलोचना आज भले ही कोई कर ले; पर उसके काव्यात्मक महत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। छाया-वाद अपना कर्तव्य पूरा कर चुका है और उसका स्थान आज केवल साहित्य के इतिहास में स्थिरत्व प्राप्त किए हुए है, यह ठीक है। पर उसकी इस ऐतिहासिक अमरता का भी अपना निजी और विशेष महत्व है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में भावी साहित्य को निश्चय ही किसी न किसी रूप में बल प्रदान करता रहेगा।

छायावाद के बाद जो तथाकथित प्रगतिवादी युग आया है, उसकी मान्यता भी स्वभावतः उसी मनोवैज्ञानिक नियम से तत्काल स्वीकार नहीं की जा रही है। विषयान्तर-प्रवेश का भय रहते भी, इस सम्बन्ध में यहाँ पर मैं यह निर्देशित कर देना चाहता हूँ कि वर्तमान प्रगतिवादी दृष्टिकोण केवल मार्क्सवादी सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। कट्टर मार्क्सवादी भाव-धारा के अनुसरण में जो रचनाएँ पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य में कुकुरमुत्तों की तरह फैल गई हैं, केवल उन्हीं को प्रगतिवादी समझ बैठना अपने दृष्टि-संकोच का परिचय देना है। छायावाद की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप प्रगतिवादी धारा कई शाखाओं में फूट निकली है। मार्क्सवादी धारा के अलावा समन्वयात्मक समाजवादी विचारधारा भी इसी नए 'वाद' के अन्तर्गत आती है, और गाँधीवादी सिद्धान्तों की नई व्याख्या से अनुप्राणित रचनाओं को भी निश्चय ही हमें प्रगतिवाद के कोठे के भीतर ही रखना होगा।

जो भी हो, वर्त्तमान प्रगतिवादी साहित्य चाहे कितने भी रूपों में हमारे सामने आया हो, उसके यथार्थ महत्व को स्वीकार करने के लिए हमारे आलोचकों का एक बहुत बड़ा वर्ग अभी तैयार नहीं है। एक तो प्रगतिवादी भाव-धारा के विभिन्न उपवर्ग आपस में ही एक दूसरे के खंडन के लिए खड्ग-हस्त हैं, तिस पर रूढ़िगत परम्परा को न छोड़ सकने वाले आलोचक 'उदार' दृष्टिकोण का मुखड़ा पहनने पर भी वास्तव में यथार्थ प्रगति के विरुद्ध घोर घातक अस्त्रों का प्रयोग करने में संलग्न हैं। इनमें से बहुत से आलोचनात्मक निबन्धों में आपको 'मार्क्सवाद', 'गाँधीवाद', 'फ्रायडवाद' आदि महान युग-धाराओं के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी भारी-भरकम शब्दावलियाँ मिलेंगी और यह भ्रम होने लगेगा कि ये आलोचक युग-धारा के प्रति सचेत हैं और उसकी सभी शाखाओं के विशेषत्व से परिचित हैं। पर यदि आप विश्लेषणात्मक दृष्टि से उनके निबन्धों पर विचार करें, तो आपको पता चल जायगा कि उन्होंने किसी एक भी धारा का अध्ययन वास्तविक अर्थ में नहीं किया है, और सभी धाराओं पर 'उड़नछू' बातें लिखते हुए मूलतः केवल एक ही 'वाद' को अपनाए हुए हैं, और वह है साहित्यिक अहंवाद।

कुछ ऐसे आलोचक हैं, जो आलोचना-साहित्य के सिद्धान्तों से तनिक भी परिचित न होते हुए भी साहित्य-क्षेत्र में अपने लिए कोई

भ्रान्त विश्वास उनके समस्त आत्म-विश्वास को घुन की तरह खाता रहता है, और आत्म-लघुता की भावना से वे बुरी तरह ग्रस्त रहते हैं।

इसलिये हमारे आलोचकों में आत्म-विश्वास की भावना को जगाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। उनके मन में यह धारणा बद्धमूल करने की आवश्यकता है कि यदि वे सच्ची साधना के पथ को ग्रहण करें, आलोचना को व्यक्तिगत अथवा दलगत प्रचार का साधन-मात्र न समझें, अन्तरानुभूति की गहनता से प्रेरित होकर व्यापक दृष्टि से काम लें, स्वाध्याय में रत रह कर साहित्य-स्रष्टा की तरह जीवन के यथार्थ द्रष्टा के पथ को अपनावें, तो उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ निश्चय ही श्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्य की श्रेणी में सगौरव स्थान पावेंगी। सच्चे आलोचक का पथ महान साधक और चिन्तक का पथ है। जहाँ इस साधक और चिन्तन का स्थान व्यक्तिगत अथवा दलगत आराधना और साहित्यक प्रवंचना ग्रहण कर लेती है, वहीं आलोचक अपने आसन से (जो कायदे से कवियों और कलाकारों से ऊँचा ही होना चाहिये, नीचा नहीं) गिर कर या तो भाटों की श्रेणी को अपना लेता है या भाँड़ों की। यदि वह परीक्षार्थी साहित्य के आलोचकों की तरह स्तवन के पथ को अपनाता है, तो वह भाटों का साथ देता है, और यदि वह अपने से विभिन्न दल के किसी लेखक को 'गिराने' के प्रयत्न में व्यर्थ के वितंडा-वाद द्वारा खण्डन का रास्ता पकड़ता है, तो वह केवल भाँड बन कर रह जाता है।

इस लेख के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि सभी युगों के श्रेष्ठ प्रतिभाशाली कलाकारों को यह शिकायत रही है कि उनके महान से महान आलोचक भी उनके बौद्धिक शिखर तक पहुँचने में समर्थ नहीं हुए हैं। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वर्तमान या भावी युग में भी साहित्यालोचक अनिवार्यतः अपेक्षाकृत निम्न बौद्धिक स्तर पर स्थित रहेंगे। पूर्व युगों में भी यह देखा गया है कि प्रायः सभी देशों के कुछ विशिष्ट साहित्यालोचक अपनी सहानुभूति, बुद्धि और ज्ञान के उदात्तीकरण के लिए प्रयत्नशील रहे हैं और अपने इस प्रयत्न में उन्हें यथेष्ट सफलता मिली है, उदाहरण के लिये, यूरोप में उन्नी-सवीं शताब्दी में कार्लाइल, सां बाव (Saint Beuve), शोपेनहोअर, हीगेल आदि का नाम इस सम्बन्ध में लिया जा सकता है। इन सभी चिन्तकों का झुकाव साहित्यालोचना की ओर रहा है, और साहित्या-

लेखन द्वारा ही वे ज्ञान और दर्शन के गहन अनुभूति-मूलक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। विक्टर एक्लोम्बर की कोटि के पारखों का स्थान सर्वोपरि समझा जाता है। इस विद्वान दार्शनिक ने धीरे-धीरे अपनी सहज साहित्य-कलानुभूति और तीव्र चिन्तना-शक्ति के निरन्तर विकास द्वारा जीवन-दर्शन तथा साहित्य-दर्शन के क्षेत्र में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो किसी भी सर्वश्रेष्ठ कवि या कलाकार को प्राप्त है। हेगेल के सम्बन्ध में भी किसी हद तक यही बात कही जा सकती है। हमारे यहाँ मार्क्सवादी दर्शन के प्रचार के सिलसिले में हेगेल का नाम अधिकांश पाठकों ने सुना होगा। पर यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है कि हेगेल केवल राजनीति-दर्शन का ही पंडित नहीं था; साहित्य तथा कला-सम्बन्धी दर्शन का भी प्रगाढ़ पंडित था, और साहित्यालोचन द्वारा ही वह दार्शनिक क्षेत्र में आगे बढ़ा था। कालरिज की साहित्य-सम्बन्धी आलोचनाओं से पाठक परिचित होंगे। जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ कवि गेटे की रचनाओं का प्रचार इंग्लैंड में इसी ने किया था। इसकी आलोचनाओं की महत्ता इस बात पर थी कि वह स्वयं एक साधना-रत चिन्तक था। किन्हीं विशेष लेखकों की निन्दा या स्तुति करने या उनकी कृतियों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित सैद्धान्तिक पुस्तकगत बातों को दुहराने की आदत उसकी नहीं थी। जीवन और जगत् के सम्बन्धी अपनी निजी अनुभूतियों से जो उज्ज्वल ज्ञान उसे प्राप्त होता था, उसी की कसौटी पर वह प्रत्येक कवि या कलाकार की रचना को कसता था। इसी का यह फल था कि वह कवियों या कलाकारों की छाया या पुच्छल न बन कर स्वयं स्थायी रूप से उन्हीं के उच्च आसन पर जा बैठने की सुविधा पा गया। सुप्रसिद्ध फ्रेंच आलोचक सां बाव अपने जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्तिम काल तक साहित्य तथा साहित्यिकों पर ही लिखता रहा। पर चूँकि वह स्वयं एक चिन्तक और साधक था, और जीवन तथा जगत् के सम्बन्ध में अपनी मार्मिक और गहन अन्तरानुभूति से एक दार्शनिक की तरह विचार करने का आदी था, इसलिए उसने अपने युग के उन कवियों और कलाकारों से यदि ऊँचा स्थान नहीं पाया, तो नीचा भी नहीं पाया। आज भी विश्व-साहित्य-क्षेत्र में उसका उतना ही सम्मान है, जितना ह्यूगो और बाल्ज़ाक का।

साहित्य-क्षेत्र में ऐसे उदाहरण विरले हैं, सन्देह नहीं, तथापि उनसे यह प्रमाणित तो होता ही है कि यदि साहित्यालोचकगण पुस्तक-

न किसी दूसरे कवि ने, न किसी प्राचीन आलोचक ने [illegible] किया, न कालिदास के बाद कभी कहीं उनकी नाट्य-कृतियों का कोई नामो-निशान पाया गया। भास के नाटक भी दीर्घ शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में विलीन रहे। इसी शताब्दी में कुछ लोगों ने उनके नाटकों का पता लगाया है। वे नाटक भी इस समय [illegible] की शोभा बढ़ाने योग्य साहस रखते हैं।

पर 'मालविकाग्निमित्र' के नटी-सूत्रधार-संवाद से यह स्पष्ट है, इन विस्मरण-योग्य नाटककारों ने अपने प्रशंसक आलोचकों के प्रचार के फल-स्वरूप अपने युग पर कैसी जबर्दस्त धाक जमा रखी थी, जिसके फलस्वरूप तत्कालीन नवीन कवि कालिदास को अपनी रचनाओं की सफलता के सम्बन्ध में यथेष्ट सन्देह हो गया था, और वह आत्म-लघुता की भावना से ग्रस्त हो रहा था। यदि कालिदास ने उनका उल्लेख न किया होता, तो आज संसार उनके अस्तित्व से भी परिचित न होता। तथापि वे उस युग में उस महान कलाकार का गला घोंटे रहे थे, जिसकी रचनाएँ आज प्रायः एक हजार वर्ष के बाद प्रगतिशील लगती हैं और विश्व-साहित्य के पारखियों द्वारा पहले से भी अधिक आदर पा रही हैं।

इस उदाहरण से हमारे आलोचकों को शिक्षा लेनी चाहिए। उन्हें अपनी दृष्टि को व्यापक बनाना चाहिये। किसी भी कलाकार की कृति पर अपना वक्तव्य देने के पूर्व उन्हें गहरी छान-बीन के बाद इस बात का निर्णय कर लेना चाहिये कि वह कृति केवल युग की आवश्यकता-पूर्ति में सहायक सिद्ध हो रही है या अपने भीतर ऐसे बीजों को भी लिये हुए हैं, जो वर्तमान की मिट्टी को भेदते हुए सुदूर भविष्य की भूमि को छूने का भी दम भरते हैं। प्रत्येक युग की प्रत्येक कृति पर (चाहे वह कैसी ही महान क्यों न हो) उस युग का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। पर देखना यह चाहिये, कि उसके भीतर युग से युगान्तर तक हरा-भरा रहने की शक्ति निहित है या नहीं। यह जानने के लिए साधन-रत आलोचक की व्यापक और साथ ही निगूढ़ दृष्टि की आवश्यकता होती है। जो 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' मूढ़ आलोचक केवल युग-धारा तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखते हैं, वे स्वयं तो भ्रमाच्छन्न रहते ही हैं, साथ ही अपने युग के श्रद्धापरायण साहित्य पाठकों को भी काफी लम्बे अर्से तक धोखे में रखते हैं।

अन्त में मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि हिन्दी में अभी आलोचना-साहित्य की उन्नति के सम्बन्ध में केवल आशावादी [illegible] । आज भी समय-समय पर साहित्य-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं में [illegible] देखने में आ जाती हैं; जिनसे पता चलता है कि [illegible] साहित्य-साधना के महत्त्व से हमारे कुछ साहित्यिकों [illegible] हैं, और उनका दृष्टिकोण भी उतना [illegible] से ऊपर उठ कर सत्य [illegible] महत्त्व समझने लगे हैं । तथापि अभी आलोचना-[illegible] से इस तरह की बात नहीं कही जा सकती ।

महादेवी जी का आलोचना-साहित्य

महादेवी जी की पद्य-रचना हिन्दी-जनता को काफी प्रभावित कर चुकी है। इधर कुछ समय से उनकी गद्य-रचना के भी एक से एक अच्छे नमूने पाठकों के आगे आते जाते हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'शृङ्खला की कड़ियाँ', इन दो पुस्तकों का महत्व हिन्दी-जनता स्वीकार कर चुकी है। इनमें से प्रथम पुस्तक में कुछ संस्मरणात्मक चित्र एक ऐसी शैली में अंकित किए गए हैं, जो कहानी-कला के लिए आदर्श मानी जा सकती है दूसरी पुस्तक में युगों की दासता से शृङ्खलाबद्ध भारतीय नारी के विद्रोह का भैरव-स्वर निनादित हो उठा है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' संभवतः उनकी तीसरी गद्य-पुस्तक है। इसमें हिन्दी के सुप्रसिद्ध तरुण आलोचक श्री गंगाप्रसाद जी पांडेय ने उनके छः निबंध संगृहीत किए हैं, जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—(१) काव्य-कला, (२) छायावाद, (३) रहस्यवाद, (४) रीति-काव्य, (५) यथार्थ और आदर्श, और (६) सामयिक समस्या।

महादेवी जी की कविताएँ जितने ही परिमाण में करुण, कोमल, तरल और विविध वर्णच्छटा से झलमलाती हुई होती हैं उनके आलोचनात्मक निबंध उसी परिमाण में निर्मम, कठोर, ठोस और सघन होते हैं। उनकी उस सघनता में बीच-बीच में व्यंग की बिजली अवश्य चमकती हुई पाई जाती है, पर इससे उसके निविड़ रूप में कोई अंतर नहीं आता।

बाह्य जगत् के व्यापक पर्यवेक्षण और अन्तर्जगत् के गहन चिंतन के फलस्वरूप जो ज्ञान महादेवी जी ने पाया है उन्हें निश्चित शब्दों में निर्भीकता से व्यक्त करने की कला में वह बहुत निपुण हैं। किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग का लिहाज करके अपने विचारों को दबाना या संकुचित करना उन्हें पसन्द नहीं। वह जैसा कुछ उचित समझती हैं उसे बेलाग कह देती हैं, यह बात नाना प्रकार की विषमताओं के बंधनों से ग्रस्त इस युग में एक बड़ी भारी विशेषता है। हिन्दी के अधिकांश ख्यातनामा आलोचकगण कुछ विशेष व्यक्तियों अथवा वर्गों को असन्तुष्ट करने के भय से ऐसी संकुचित शैली में, हेरफेर के साथ, अपनी बातें कहते हैं कि उनकी एक भी बात स्पष्ट नहीं हो पाती और

बेचारा पाठक लाख सिर पटकने पर भी अंत तक इस भ्रम में पड़ा रह जाता है कि वास्तव में आलोचक का अपना निजी और निश्चित मत क्या है। इसका एक कारण शायद यह भी है कि इस अनिश्चित मत में किसी आलोचक का अपना निजी और निश्चित मत है भी नहीं। संभवतः इसी कारण अस्पष्ट और वाग्जालों में उलझी हुई आलोचना को कलात्मक रूप देने की प्रवृत्ति आये दिन हिन्दी संसार में चल पड़ी है। आलोचक की आत्म-विवशता ने उसे यह एक अभिनव चातुरी सिखा दी है! पर महादेवी जी की आलोचनाओं में हम इस प्रवृत्ति का लेश भी नहीं पाते। वह प्रत्येक विषय पर अपना निश्चित मत रखती हैं और जो कुछ भी कहती हैं स्पष्ट शब्दों में, सुसंस्कृत भाषा में, सुलझे हुए ढंग से कहती हैं। इसका कारण वही है जो पहले बताया जा चुका है—बाह्य जीवन के व्यापक निरीक्षण और अंतर्जीवन की गहन अनुभूति तथा चिंतन के फलस्वरूप उन्होंने जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में एक ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है जो अपनी एक निश्चित सत्ता रखता है, फिर उसमें मतभेद की कैसी ही सम्भावना निहित क्यों न हो। पर हमारे अधिकांश अन्य आलोचकों में न बाह्य जीवन के विस्तृत पर्यवेक्षण की दीर्घ दृष्टि वर्तमान पाई जाती है, न अन्तर्जीवन की किसी प्रकार की साधना की प्रवृत्ति। यही कारण है कि, महादेवी जी के कथनानुसार, आज का आलोचक "मानसिक पूँजीवाद और जीवन का दारिद्र्य साथ लाये बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नहीं आती, क्योंकि ऐसी पुकार स्वयं उसी के जीवन को विरोधात्मक बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह एक अथक विवादी गण के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नहीं दे सका जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।"

सारी पुस्तक को आद्योपांत पढ़ जाने के बाद जो दो-चार बातें विशेष रूप से पाठक के मन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं उनमें से एक यह है कि लेखिका का हृदय वर्तमान युग के कोरे बुद्धिवादी साहित्य की व्यर्थता देखकर अत्यंत मार्मिक रूप से दुःखी है। 'बुद्धिवादी', 'बुद्धिजीवी', 'बुद्धि-व्यवसायी' आदि शब्द उनकी पुस्तक में बार-बार आए हैं, और इस विशेष वर्ग की एकांगीय मनोवृत्ति का विरोध लेखिका ने खुले शब्दों में किया है। लेखिका की राय में—

"नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धि, वैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धान्तों को माँज-धोकर रात-दिन चमकाती रहती है, पर जीवन में जंग लग जाने देती है.........काव्य में तो जीवन का निरन्तर स्पर्श और उसकी मार्मिक अनुभूति सब से अधिक अपेक्षित है। यह युग यथार्थवादी है, अतः जीवन के स्पन्दन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओं से उसमें कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।"

तथाकथित बुद्धिवादी लेखकों की अनुभूतिहीनता के खिलाफ लेखिका को जो शिकायत है वही आजकल के कोरे यथार्थवादी लेखकों की आदर्श-विमुखता के विरुद्ध भी है। उनकी सम्मति में "अस्वस्थ साहित्य का सृजन करते-करते ही यथार्थवादी प्रगति के चरम लक्ष्य तक पहुँच जायेंगे, इसे मान लेना यह विश्वास कर लेना है कि एक ही ओर चलने वाला चलते-चलते दूसरी ओर पहुँच जायगा। हमारा सामाजिक स्वास्थ्य नष्ट हो गया है, पर निर्माण के लिए तो स्वस्थ प्रवृत्तियाँ, संस्कृत हृदय, और परिष्कृत बुद्धि चाहिये। जो विकृतियों से प्रभावित हैं,पर आत्म संस्कार के प्रश्न को भविष्य के लिए उठा रखते हैं, वे पथ-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त न हो सकेंगे।" कहना नहीं होगा कि किसी भी समझदार व्यक्ति का मतभेद लेखिका की इस राय से नहीं हो सकता। जो यथार्थवादी केवल अस्वस्थ नग्न सत्य को यथारूप चित्रित करके अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ समझता है उससे अधिक भ्रम में पड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकता। पर जो समालोचक यह मत रखते हैं कि किसी भी हालत में, किसी भी उद्देश्य से, समाज की छाती पर घुन की तरह बैठे हुए विकृत किन्तु ज्वलंत यथार्थ का चित्रण होना ही नहीं चाहिये, उनसे हम सहमत नहीं है। यदि लेखक एक निश्चित और महत्वपूर्ण आदर्श के बीज वपन के उद्देश्य से यथार्थ की मिट्टी को गहराई में खोदता है, या समाज के किसी गर्हित अंश के मूलगत परिष्करण के मांगलिक उद्देश्य से वास्तविकता के कीचड़ को तल से सतह तक उलीचता है, तो उसके यथार्थ-चित्रण का महत्व निश्चय ही अविवादास्पद समझा जाना चाहिये। पर महादेवी जी की शिकायत यह है कि हिन्दी के वर्तमान युग के अधिकांश यथार्थवादी लेखकों ने गन्दगी को केवल गन्दगी के लिये ही अपनाया है, उसे आदर्शात्मक मिट्टी को उर्वरा बनाने के लिये

केवल वाद के काम में लाना उनका उद्देश्य नहीं रहा है। यह प्रवृत्ति निश्चय ही घोर निन्दनीय और गर्हित है, इसे सभी स्वीकार करेंगे।

यदि एक ओर विशुद्ध यथार्थ और दूसरी ओर कोरा आदर्श, इन दो में से एक को ग्रहण करने का प्रश्न उठे तो महादेवी जी निश्चय ही कोरे आदर्शवाद को ग्रहण करना पसन्द करेंगी। उनकी सम्मति में "एक सम्भाव्य आदर्श एक निश्चित यथार्थ से उतना ही मूल्यवान है जितना एक मूल्यवान स्वप्न एक बेदाम स्थूल से।" हमारी विनम्र सम्मति में 'एक निश्चित यथार्थ' केवल एक 'बेदाम स्थूल'-मात्र ही नहीं है। किसी भी निश्चित यथार्थ से (चाहे वह प्रकट रूप से कैसा ही गन्दा क्यों न हो) हम सुनिश्चित रूप से जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अत्यन्त मूल्यवान शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। प्रश्न है ग्रहण करने वाले की दृष्टि का। एक व्यक्ति कीचड़ के कीड़े की तरह कीचड़ में पड़े रहने में ही सुख प्राप्त कर सकता है और उसी कीचड़ को जीवन का अथ-इति मान सकता है। यह उसकी विकृत और भ्रमित रुचि का दोष है। दूसरा व्यक्ति उसी कीचड़ में से ऐसा सार निकाल सकता है जो जीवन के पोषण और स्वस्थ विकास के लिये परम आवश्यक है। जीवन के महान् आदर्श का सुन्दर कमल केवल मात्र यथार्थ के कीचड़ से पोषक-तत्व खींच सकता है। यथार्थ की पंकिलता का आश्रय ग्रहण किये बिना उस कमल की उद्भावना भी संभव नहीं है। महाभारतकार को यह बात मालूम थी। महाकवि दांते इस तथ्य से भली-भाँति परिचित था; इसीलिये उसने अपनी 'डिवाइना कामेडिया' में पहले नरक का चित्र उपस्थित कर तब उस पर स्वर्ग की स्थापना की है। जिस स्वर्ग की स्थापना यथार्थ जीवन के नरक के ऊपर नहीं है वह स्वर्ग झूठा है। महादेवी जी स्वयं इस सत्य को अनुभव करती हैं। उन्होंने लिखा है—"सन्तुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके, परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक दीर्घकाल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती जा रही है। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढके वीर हैं कि जीवन की रुक्षता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती या ऐसे शुष्क जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के असंलग्न कणों के समान बिखर जाता है; या तो ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि रामराज्य का आदर्श भी मिथ्या जान

पड़ता है।" यथार्थ और आदर्श के सुसंगतिपूर्ण सामञ्जस्य की जो शिक्षा महादेवी जी ने दी है वह वास्तव में उन्हीं के समान उदार दृष्टिवादी और गहन अनुभूति-परायण लेखिका के योग्य है। इसके अतिरिक्त यथार्थ और आदर्श का अलग-अलग तौर से, सूक्ष्म रूप से, जो कलात्मक और वैज्ञानिक विश्लेषण तथा विस्तृत और गहन विवेचन उन्होंने किया है वह हिन्दी आलोचना-साहित्य के लिये एकदम नयी चीज है। अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ऐसे सुन्दर, सजे और सुलझे हुए ढंग से उन्होंने पाठकों के आगे रखा है जो भावी आलोचक के लिये एक महान् आदर्श सिद्ध होकर रहेगा।

केवल एक निवेदन और करके हम यथार्थ और आदर्श के संबंध में अपने वक्तव्य को समाप्त करेंगे। प्राचीनतम काल से लेकर आज तक के साहित्य के इतिहास में यह विशेष बात पाई गई है कि यथार्थ उस युग में अधिक अपनाया गया है जिस युग में राजनीतिक उथल-पुथल ने महाभारत-काल की-सी विषमतामूलक और विध्वंसक स्थिति उत्पन्न की है। वर्तमान युग में नये ढंगों से और नये रूपों से वे ही परिस्थितियाँ फिर से आकर विश्व-गगन में विनाश के बादलों की तरह छाई हुई हैं। इसलिये यदि युग का झुकाव यथार्थ की ओर विशेष रूप से हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। महादेवी जी ने रामायण और महाभारत-काल की यथार्थ-दृष्टियों की तुलना करते हुए रामायण के यथार्थ को सामञ्जस्यपूर्ण, सृजनात्मक और आदर्शमूलक माना है, और महाभारत के यथार्थ को विनाशशील बताया है। इसमें संदेह के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं है कि महाभारत-युग के यथार्थ आदर्शवादी कवि को विध्वंस और विनाश के माध्यम से होकर आगे बढ़ने को विवश होना पड़ा है। पर इसमें महाभारतकार की यथार्थ-दृष्टि का तनिक भी दोष नहीं है; जिस राजनीतिक उथल-पुथल और बौद्धिक क्रांति की घोर संघर्ष-विघर्षमयी विषमता के बीच में उस युग का कवि काव्य-रचना कर रहा था उस उत्कट यथार्थ की अवज्ञा वह किसी प्रकार भी नहीं कर सकता था। उस यथार्थ ने स्वभावतः उसकी समस्त चिंता-धारा को छा लिया था और वह जानता था कि उस युग व्यापी ज्वलन्त, प्रत्यक्ष, और प्रतिपल अत्यन्त तीव्रता से अनुभूत होने वाले घनघोर यथार्थ के आधार के बिना किसी आदर्श के स्थापन की चेष्टा करना बालू की भीत पर स्थायी मांगलिक चित्र अंकित करने के प्रयास के बराबर है। युग की विषमताओं और विनाशात्मक क्रांति-चक्रों के

बीच में पिसते रहने पर भी जनता के प्रतिनिधि उस कवि ने छुरे की पैनी धार के समान तीखे यथार्थ के पथ पर चलकर निष्काम कर्मयोग के जिस विराट् आदर्श की स्थापना की वह किसी भी युग के किसी आदर्श से किसी अंश में न्यून नहीं था। जो यथार्थ गीता के समान अमर आदर्श की सृष्टि कर सकता है वह किसी भी स्थिति में विनाशशील नहीं कहलाया जा सकता, भले ही उसका ऊपरी परिणाम प्रकट में विध्वंस-मूलक जान पड़े। सच्चे यथार्थवाद की महत्ता इसी बात पर है कि वह नाना वैषम्य और वैपरीत्य को तद्रूप और तद्वत् चित्रित करके पाठकों के मन में स्पन्दनशील जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के प्रति तीव्रता की अनुभूति जगा कर उन विषमताओं के भीतर से एक चिरन्तन और अखंड आदर्श का स्रोत फोड़ निकाले।

रामायण के कवि ने निस्सन्देह एक सुस्निग्ध, सामञ्जस्यपूर्ण नियोग के आदर्श को ग्रहण किया और साहित्य में एक गतिशील, सृजनात्मक सत्य की स्थापना की। पर जिस युग में रामायण की रचना हुई वह युग महाभारत-काल की तरह किसी बड़ी बौद्धिक क्रान्ति और राजनीतिक विप्लव का युग नहीं था। उस युग के बौद्धिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन की समस्याएँ वैसी जटिल, विस्फोटक, और विरोधाभासमूलक नहीं थीं। इसलिये उस युग के कवि के आगे आदर्श का पथ अत्यन्त स्पष्ट और सरल था। पर महाभारतकार का मार्ग इतना सीधा और स्पष्ट नहीं था। उसके मन और मस्तिष्क के चारों ओर कठोर द्वन्द्वात्मक और विकट विरोधाभास-मूलक यथार्थ ने ऐसा जबर्दस्त धावा बोल रखा था कि उसे आधी से अधिक शक्ति उससे जूझने में खर्च करनी पड़ी। पर यह उसकी महान् विशेषता है—रामायणकार की अपेक्षा कई गुना अधिक महान्—कि अपने चारों ओर के जीवन्त और ज्वलन्त यथार्थ से न भाग कर वह अन्त तक उससे जूझता रहा है और हार मान न होकर अन्त में विजयी सिद्ध हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकट रूप से उसकी विजय भी हार का जामा पहन कर आई, पर परोक्ष में उस हारनेवाली विजय ने अपने आगे के 'सीमाहीन मरु' के भीतर अंतःसलिला की तरह कर्मयोग की दार्शनिकता की एक अक्षय धारा बहाई। आदर्श और यथार्थ के महत्त्व की आपेक्षिकता पर विचार करते हुये हमें यह परम तथ्य नहीं भुलाना होगा।

हमारे कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि महादेवी जी ने महाभारत के यथार्थ के महत्व को नहीं समझा है। वास्तव में तथ्य इसके विपरीत है। उन्होंने इस महत्व को जितना समझा है उतना शायद ही हिन्दी का कोई दूसरा मनीषी समझ पाया हो। सच पूछा जाय तो महाभारत के यथार्थ के स्पष्टीकरण की चेष्टा में हमने यथार्थ के सम्बन्ध में महादेवी जी के ही दृष्टिकोण की व्याख्या करने का क्षीण प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि रामायण का सहज गतिशील आदर्श महाभारत के द्वन्द्वात्मक और विरोधाभासमूलक यथार्थ की अपेक्षा उन्हें अधिक प्रियकर लगता है। पर इससे यथार्थ के सम्बन्ध में उनके विचारों में तनिक भी पंगुता नहीं आने पाई है, और न उनके इस निश्चित मत में उससे कोई परिवर्तन ही आता है—"आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रूपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे, और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है।"

'छायावाद' शीर्षक लेख में महादेवी जी ने स्वभावतः छायावादी कविता का जबर्दस्त पक्ष लिया है। उनकी राय में "मनुष्य की निम्नवासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य को उसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस (छायावादी) युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।" उनका यह भी मत है कि छायावाद जीवन संघर्ष से पलायन का परिणाम नहीं था, बल्कि उसका सम्बन्ध मानव-स्वभाव के भीतर निहित उस विशेष पलायन-वृत्ति से है जिसे "युगों से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय है।" उनकी यह भी धारणा है कि छायावादी युग का रंगीन दृष्टिकोण तारुण्य का द्योतक है, "जो चाँदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है।" और इस तारुण्य की तुलना में वर्तमान का कोरा बुद्धिवादी युग उन्हें वार्द्धक्य से पीड़ित जान पड़ता है।

हमारी व्यक्तिगत राय यह है कि साहित्य-क्षेत्र में छायावाद अपने काल में उसी रूप में प्रगतिशील रहा है जिस रूप में राजनीतिक तथा

सामाजिक क्षेत्र में पूँजीवाद। जिस प्रकार पूँजीवाद ने सामंतवर्गीय समाज की जड़ता के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी औद्योगिक क्रान्ति से समाज में एक सजीवता और सक्रियता ला दी, ठीक उसी प्रकार छायावाद ने रीतिकालीन युग की वक्रता और भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग की स्थूल-दर्शिता के विरुद्ध विद्रोह करके अंतर्जीवन की गतिशीलता और सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की युक्तता से साहित्य को परिप्लावित कर दिया। अंतर्जीवन के सौन्दर्यलोक की यह सूक्ष्मानुभूति अपना एक निजी महत्व और विशेषत्व रखती है, जिसकी अवज्ञा करना अपनी दृष्टि की क्षीणता का परिचय देना है। यह अनुभूति चाहे जीवन-संघर्ष से पलायन के फलस्वरूप आई हो, चाहे तारुण्य की अदूरदर्शी रङ्गमय स्वप्न-दृष्टि के कारण, वह हर हालत में हमारे साहित्य में एक बहुत बड़ी देन के रूप में आई, इसमें सन्देह के लिए कहीं कोई आधार नहीं है। खराबी तब आई जब उसकी एकांगीयता ने साहित्य को अपनी रंगीनी से इस बुरी तरह छा लिया कि यथार्थ की दृष्टि ही उसने एकदम लुप्त कर दी। महादेवी जी की इस धारणा का हम पूर्णतया समर्थन करते हैं कि "यदि हम पहले की-सी सौन्दर्य दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें, तो जीवन का सामञ्जस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे।"

सूक्ष्म-सौन्दर्य-बोध जीवन के सच्चे परिज्ञान के लिए उतना ही आवश्यक है जितना स्थूल वास्तविकता का बोध। इसलिए छायावाद का जो एक अपना निजी महत्त्व है, वह अविवादास्पद है। पर उस सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति के एकांगीय अनुशीलन को सीमाहीन गति से बढ़ाये ले चलने में बहुत खतरे हैं—ठीक उसी रूप में जिस प्रकार अविद्या के संग स्पर्श से रहित कोरी विद्या के अनुशीलन को उपनिषद्कार ने खतरनाक बताया है। विद्या तथा अविद्या, सूक्ष्म और स्थूल, स्वप्न और यथार्थ, इन द्वन्द्वों के सानुपातिक सामञ्जस्य के बिना साहित्य कभी जीवन को सुचारु गति नहीं दे सकता। महादेवी जी का यही संदेश है।

पलायन-वृत्ति की जो एक स्वतन्त्र व्याख्या महादेवी जी ने की है वह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण और माननीय है। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, उनकी राय में छायावादियों का 'पलायन' जीवन-

संघर्ष से पलायन नहीं है, बल्कि वह अंतर्जीवन के संबन्ध में रागात्मक चिंतन की एक सहज-स्वाभाविक प्रेरणा का फल है। उनका यह विश्वास है कि सच्चे अर्थों में पलायनवादी आजकल के कोरे बुद्धिवादी साहित्यिक हैं जो "यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ होने के कारण" वास्तविक जीवन से भाग कर सैद्धांतिक चिंतन का आश्रय ग्रहण किए हुए हैं। इस तर्क से चाहे किसी का कैसा ही मतभेद क्यों न हो, यह विचारणीय अवश्य है। महादेवी जी के छायावाद संबन्धी लेख के विषय में यह कहने में हमें कोई झिझक नहीं है कि हिन्दी में उसका वही ऐतिहासिक मूल्य है जो अँगरेजी में शेली की 'डिफेन्स आफ पोएट्री' का। जैसे सुन्दर, सजीले ढंग से, ठोस तर्कों द्वारा महादेवी जी ने छायावाद का पक्ष-समर्थन किया है उस रूप में आज तक हिन्दी का कोई दूसरा आलोचक नहीं कर पाया है।

रहस्यवाद-विषयक निबंध भी महादेवी जी की अपनी विशेषता है। स्वयं रहस्यवादिनी होने के कारण उन्होंने इस जटिल और दुरूह विषय का स्पष्टीकरण बड़े ही सुन्दर और सुलझे हुए ढंग से किया है। उनके इस निबंध का मूल भाव इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—"हमारे मूर्त और अमूर्त जगत एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौन्दर्य के रंग और रूपों के रेखाजाल से बना चित्र यदि अपनी रहस्यात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त दर्शन और अमूर्त का भावन सहज कर देता है तो तर्क व्यर्थ होगा। अखंड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।"

इस प्रकार का भाव-निरूपण निश्चय ही किसी भी रहस्यार्थी जिज्ञासु के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध हो सकता है। 'सामयिक समस्या' में यथार्थवाद और प्रगतिवाद पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है।

सच्चे यथार्थवाद से चाहे वह मार्क्सवाद से प्रभावित हो चाहे गांधीवाद से, महादेवी जी का कोई विरोध नहीं है। सच्चे प्रगतिवाद से हमारा आशय उस साहित्यिक विचारधारा से है जो किसी भी

विशेष 'वाद' को अपने भीतर न बाँध कर साहित्य और जीवन के स्वाभाविक विकास के प्रवाह-पथ को भविष्य के लिए मुक्त छोड़ देती है। पर उनकी धारणा है कि सच्चे प्रगतिवाद की प्रवृत्ति वर्तमान रहते हुए भी एक ऐसे नकली प्रगतिवाद ने आज हिन्दी में अपना रंग जमाना शुरू किया है जो "मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद भी चाहता है। अतः साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्व सैद्धांतिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। वह राजनैतिक दलों के समान साहित्यकारों का विभाजन कर अपने पक्ष में बहुमत और दूसरे पक्ष में अल्पमत चाहता है।"

इस प्रकार की दल-बद्ध संकीर्णता से घिरा हुआ प्रगतिवाद निश्चय ही साहित्य को किसी निश्चित और स्थाई कल्याण के पथ पर ले चलने में असमर्थ है। उसे केवल एक ऐसा बुद्धिजीवी-वर्ग अपना सकता है जो "जीवन के स्वाभाविक और सजीव स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारों की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है।"

वास्तव में हमारे साहित्य में ऐसे सच्चे और साधनाशील प्रगतिवादियों की परम आवश्यकता है जो समाज और साहित्य की वास्तविक प्रगति की सच्ची लगन से प्रेरित होकर चिंतन करते हैं, और सच्ची पीड़ा से आकुल होकर प्रगति की आवश्यकता का अनुभव करते हैं; जो बहुत व्यापक, ऊँचे और साथ ही गहरे दृष्टिकोण से प्रगति की नाप-जोख करते हैं, और अपने मतवाद के चारों ओर किसी प्रकार की साम्प्रदायिक चहारदीवारी खड़ा करना पसन्द नहीं करते।

श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न यद्यपि सच्चे प्रगतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, तथापि कुछ नवीन कलाकारों ने उसे जबर्दस्ती झूठे प्रगतिवाद की पूँछ के साथ बाँध कर एक नयी समस्या खड़ी कर दी है। वर्तमान प्रगतिवाद की प्रारंभिक अवस्था में कुछ नग्नतावादियों ने प्रगतिवाद की आड़ में स्त्री-पुरुष-संबंधी विषयों को लेकर अपने काम-दग्ध हृदय के फफोले इस भयंकर रूप से फोड़ने शुरू कर दिये थे कि श्लीलता और अश्लीलता का महत्वहीन प्रश्न, जो दब चुका था,

फिर एक बार पूरे प्रवेग से उभर उठा। इस प्रश्न, के सम्बन्ध में हमारी यह धारणा सदा से रही है कि अपने आप में कोई चीज न श्लील है न अश्लील; देश, काल, पात्र और उद्देश्य की आपेक्षिकता एक ही घटना, कार्य या भाव को कभी अश्लील बना देती है और कभी श्लील। महादेवी जी के विचार हमारे दृष्टिकोण से पूर्णतः मिलते हैं। उनका कथन है कि "व्यापक अर्थ में यह भाव (श्लीलता और अश्लीलता) जीवन के प्रति सम्भव और असम्भव के पर्याय हो सकते हैं। जिस भाव, विचार, संकल्प, संकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नहीं प्रकट होगी वे सब अश्लील की परिधि में रखे जा सकेंगे। जो चिकित्सक रोगी के शरीर का परीक्षा करता है वह अश्लील नहीं कहा जाता। पर यदि राह में कोई उसी रोगी की पगड़ी उतार कर कहे कि जब चिकित्सक को पीठ दिखाने में लज्जा नहीं आई तब यहाँ सिर उघड़ जाने में क्या हानि है, तो इस कार्य को अश्लील नहीं कहा जा सकेगा।"

तथाकथित 'विकृत और अश्लील' चित्रों के चित्रण से महादेवी जी को कोई आपत्ति नहीं है, बशर्ते उन चित्रों का लेखक उस विकृति अथवा अश्लीलता के रस में स्वयं डूबा न होकर तटस्थ हो—केवल तटस्थ ही नहीं, बल्कि उसका उद्देश्य निश्चित रूप से उन 'विकृत तथा अश्लील' चित्रों के अंकन द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों से एक मांगलिक आदर्श की स्थापना करने का हो; वह एक ऐसे गोताखोर की तरह हो "जो केवल तट पर कीचड़ और घोंघों का ढेर लगाने के लिए समुद्र की अतल गहराई में नहीं धँसता।" बल्कि "उस मोती को निकाल लाता है जिससे संसार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओं से भरे समुद्र को रत्नाकर नाम देता है।"

वर्तमान हिंदी साहित्य में झूठे यथार्थवाद का जामा पहने हुए जिस आदर्श-रहित सस्ते सेक्सवादी साहित्य की भरमार पाई जाती है उसके मूल में, महादेवी जी की राय में, "हमारे समाज की समष्टिगत विकृति" के अलावा "यूरोप के पतनशील साहित्य में मिलने वाले फ्रायडियन सिद्धांत" भी हैं। महादेवी जी के मतानुसार "हमारी स्वभावगत विकृति से अधिक हानिकारक फ्रायडियन प्रवृत्ति है, क्योंकि वह व्यक्ति की विकृति को संरक्षण ही नहीं देती, वरन् उसे सामान्य बनाने के लिये एक कल्पित सिद्धांतवाद भी देती है।"

स्वस्थ यथार्थवादी दृष्टि और उसकी आदर्शवादी प्रवृत्ति ने चरित्र, उच्छृंखल, उत्तरदायित्वहीन और [illegible] की विकृतियों के लिये फ्रायडियन सिद्धान्तों को, दोषी ठहराकर महादेवी जी ने फ्रायड के साथ न्याय नहीं किया है, ऐसा कहने को हमें बाध्य होना पड़ता है। हमारे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि फ्रायड के सिद्धान्त निर्भ्रान्त और निरापद हैं। पर इतना हम कह सकते हैं कि यदि हम उन प्रकट रूप में भूल-भ्रान्ति से भरे सिद्धान्तों की गहराई में पैठ कर उनकी विशेषता की परख करें, और बिना किसी पूर्व संस्कार के उनके सामूहिक अर्थों के भीतर छिपे हुए परम कल्याणकारी आविष्कार की खोज में जुट जावें, तो हमको मालूम होगा कि मानव-स्वभाव के उदात्तीकरण की प्रक्रिया में, (मानव-जन्य विराट बाधाओं के दूरीकरण के प्रयास में, जिन प्रारंभिक सीढ़ियों का निर्माण फ्रायड ने किया है, मानवीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में उनका महत्व अमर है। असल बात यह है कि कुछ ऐसे ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध 'कलाकारों' ने (दूसरे आलोचकों के साथ) महादेवी जी को भी इस भ्रम में डाल दिया कि उन्होंने अपने गलित और कुत्सित यथार्थवाद की प्रेरणा फ्रायड से पाई है, हालांकि ऐसे कथाकारों में से निन्यानवे प्रतिशत ऐसे होते हैं जो फ्रायडियन सिद्धान्तों का ककहरा भी नहीं जानते; फ्रायड के सम्बन्ध में केवल दूसरों से सुनी-सुनाई बातों की पूँजी का संबल बनाकर वे 'मनोवैज्ञानिक कथाकार' के नाम से अपना झूठा परिचय दुनिया को देते फिरते हैं। और जिन लोगों से ये 'मनोवैज्ञानिक कथाकार'-गण फ्रायडियन सिद्धान्तों के बारे में सुनते हैं उनमें से भी निन्यानवे प्रतिशत ऐसे होते हैं जो दो एक फ्रायडियन पुस्तकों के पन्ने उलट कर उनकी वर्णमाला-मात्र जान लेते हैं, और इतने ही से अपने को दिग्गज मनोविश्लेषक करार देने लगते हैं।

किसी भी विद्या का अधूरा ज्ञान हानिकारक होता है, फिर फ्रायडियन मनोविज्ञान का अधूरा ज्ञान तो निश्चय ही घातक सिद्ध होता है। यूरोप के बहुत से अधकचरे कथाकार फ्रायडियन मनोविज्ञान का बिल्ला लगाकर साहित्यिक आत्महत्या कर चुके हैं, फिर हमारे यहाँ के अधकचरों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। तिस पर विशेषता यह कि हमारे यहाँ के दिग्गज कथाकार फ्रायडियन सिद्धान्तों का अधूरा ज्ञान भी नहीं रखते—जैसा कि पहले कह आये हैं, फ्रायडियन विज्ञान के ककहरे से भी वे लोग भली-भाँति परिचित नहीं रहते।

मालूम होगा कि उनकी 'गीतांजलि' उनके रहस्यवादी काव्य-संग्रहों में सर्वप्रधान है) :—

"जहाँ सब से अधम और दीन से भी दीन जनों का निवास है वहीं तुम्हारे चरण विराजते हैं—सब के पीछे, सब के नीचे, 'सर्वहारा'* (अर्थात् जो अपना सब कुछ खो चुके हैं) लोगों के बीच में।

"जहाँ तुम संगी-हीन-जनों के सङ्गी (कामरेड) बनकर सब के पीछे, सब के नीचे, सर्वहारा लोगों के बीच में रहते हो, वहाँ मेरा हृदय (अपने झूठे उच्चासन से) उतर कर नीचे क्यों नहीं आ पाता !"

  

"भजन-पूजन, साधन-आराधना सब पड़े रहने दे ! अरे अभागे ! तू देवालय के कोने में बैठ कर किवाड़ बन्द करके क्यों बैठा है ?

"तू अपने मन के अन्धकार में स्वयं छिपकर एकान्त भाव से किसका ध्यान कर रहा है ? जरा आँखें खोल कर देख, तेरा देवता मन्दिर में नहीं है। देवता वहाँ गया हुआ है, जहाँ किसान मिट्टी खोद कर खेती कर रहा है, जहाँ मजूर पत्थरों को तोड़ कर रास्ता तैयार करने में व्यस्त है। तुझे मालूम होना चाहिये कि तेरे भगवान धूप और पानी में सब के साथ हैं, उनके दोनों हाथों में मिट्टी लगी हुई है। उन्हीं के समान अपने पवित्र वस्त्रों को छोड़कर धूल के बीच में चला जा।

"मुक्ति ? अरे मूर्ख ! तू मुक्ति कहाँ पावेगा ? भगवान स्वयं सृष्टि का बन्धन पहन कर सब के निकट बँधे हुए हैं। इसलिए अपना ध्यान-भजन छोड़ दे, फूलों की डलिया अलग हटा दे, अपने कपड़ों को धूलि-धूसरित होने दे। कर्मयोग में भगवान के साथ एक होकर एड़ी-चोटी का पसीना एक कर !"

यह घोर प्रगतिशील उक्ति उस कवि की है, जिसके सम्बन्ध में हिन्दी-जनता के एक बहुत बड़े भाग में यह महाभ्रम फैला हुआ है कि वह एक घोर अहंभावापन्न, पूँजीवादी, रोमांटिक और रहस्यवादी

* यह शब्द हमारे वर्तमान प्रगतिवादी साहित्य-समाज में बहुत प्रचलित है, पर इसके जन्मदाता रवीन्द्रनाथ ही हैं।—ले०

कवि था—इसके सिवा और कुछ नहीं था—इसके सिवा और कुछ नहीं था। यह भ्रम इसलिए फैला हुआ है कि हमारे अधिक संख्यक साहित्यिकों को रवीन्द्र की पूर्ण रचनाओं को मननपूर्वक पढ़ने की न तो सुविधा प्राप्त हो सकी है, न उतना धैर्य ही उनमें रहा है। अँगरेजी में रवीन्द्रनाथ की जो कविताएँ अनुवादित हुई हैं, वे परिमाण में अति स्वल्प हैं, जिस पर प्रायः सभी एक ही तरह की हैं। इसलिये उनके माध्यम से रवीन्द्रनाथ के समान विराट लेखक की भावधाराओं से परिचित होने की कल्पना अत्यन्त हास्यास्पद है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि रवीन्द्रनाथ की कुल रचनाएँ रायल साइज के प्रायः सत्रह हजार पृष्ठों में भी पूरी तरह से नहीं समा सकतीं। ऐसी हालत में उनका पूर्ण अध्ययन कर पाना कोई साधारण बात नहीं है और पूर्ण अध्ययन के बिना उनकी भावधारा पर कोई मन्तव्य प्रकट करना अत्यन्त अनधिकार चेष्टा होगी—इस बात से सभी सहमत होंगे।

ऊपर कवि के कुछ पदों का जो अनुवाद दिया गया है, उनसे पाठकों को पता लग जायगा कि कठोर वास्तविक जीवन की मिट्टी से हाथ धोकर ऐकान्तिक रहस्योपासना रवीन्द्रनाथ के स्वभाव के बिलकुल प्रतिकूल थी। उनकी जीवन व्यापी साधना का उद्देश्य था—आत्मगत जीवन को विश्व-जीवन की रात-दिन की कठोर संघर्षमयी अनुभूति के साथ एक रूप में मिला कर महाजीवन का अनुभव प्राप्त करना और उसे सर्वकल्याणकारी रूप देना। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने सौन्दर्य के माध्यम से जीवन को देखा और सौन्दर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुकुमारता का जैसा प्रदर्शन उन्होंने किया, वैसा संसार के कुछ विरले ही कवि कर पाये हैं। शेली ने बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य (Intellectual beauty) के अतीन्द्रिय रूप को अपनी तीव्र अन्तरानुभूति की 'एक्स'-किरणों द्वारा स्तर-प्रति-स्तर देखने में कमाल हासिल किया था। रवीन्द्रनाथ की अन्तरानुभूति इस सम्बन्ध में कुछ कम मार्मिक और सूक्ष्म नहीं थी, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। उनकी एक नहीं, बीसियों कविताएँ इस सम्बन्ध में दृष्टान्त-स्वरूप पेश की जा सकती हैं, और दो-एक विशेष कविताओं का उल्लेख करना कवि के प्रति घोर अन्याय करना होगा। इसके अतिरिक्त यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि शेली की सौन्दर्यानुभूति मार्मिक होने पर भी उसकी अभिव्यंजना वैसी स्वच्छ और सरल नहीं थी, जैसी

तरु-मर्मर पवने,
सेइ मुकुल-आकुल बकुल-कुञ्ज-भवने
सेइ कुहु-कुहरित विरह-रोदन
थेके-थेके पशे श्रवणे।"

—'दिन भर मन्द-मन्द पवन से तरंगित मर्मरित तरुओं के नीचे की छाया में बैठे रहने की इच्छा होती है, और मुकुलों से आकुल बकुल-कुंज-भवन में कोकिल के कुहू-कुहू रव से कुहरित विरह-रोदन रह-रह कर कानों में प्रवेश करता रहता है।'

कवि अपने मानस-राज्य की उस मायाविनी गायिका से व्याकुल प्रार्थना करते हुए कहता है—"विषाद शान्त शोभा में बैठी हुई तुम जो उदास-मूर्ति हो, तुम इस नव-प्रभात में भैरवी मत गाओ, और मेरे समान तरुण-हृदय पथिक के प्राणों को फिर से घर की ओर न खींचो। जिसे तुमने विपुल संघर्षमय क्षेत्र की यात्रा करने के उद्देश्य से एक बार घर से विदा कर दिया है, उसे अश्रु-सजल भैरवी गाकर फिर स्वप्न-राज्य की ओर मोड़ने की चेष्टा न करो। मेरे कठिन यात्रा-मार्ग को पहले ही प्रभात में अपने नयन-बाष्प के कुहरे से मत छा दो! यदि तुम्हें भैरवी-तान में रोना ही है, तो उन लोगों के पास जाकर रोओ, जो उठना चाहते हैं, पर उठ नहीं सकते। वे लोग ललित-लता का बन्धन तोड़ने में असमर्थ हैं। जीवन के वास्तविक पथ से वे परिचित हैं, पर ऐसे अकर्मण्य हो गए हैं कि फिर भी एक किनारे पर पड़े-पड़े केवल विलाप करते रहते हैं। वे लोग केवल अलस रागिनी गाकर मधुर वेदना की विह्वलता में मग्न रहना चाहते हैं; दिन-रात उसी अजस्र-रोदन के प्रवाह में बहते रहने में ही उन्हें सुख मिलता है। अपने ही गान की वेदना से गल कर वे अपने-आपको भुलावे में रखना चाहते हैं। कोमल भावना-रूपी शयन में जीवन-यापन करके वे निद्रा के झूले में झूलते रहते है। इस प्रकार के जीवन से तो निष्ठुर आघातपूर्ण, तीव्र ज्वालामय जीवन कहीं अच्छा है। मैं आजीवन पाषाण के समान कठोर सत्य के पथ पर चलना पसन्द करूँगा। वह मार्ग यदि मुझे मृत्यु की ओर ढकेले लिए जाय, तो उस मरण में भी सुख है!"

इस प्रकार कवि के अन्तर में छाया की माया और कर्तव्य की प्रेरणा की ही विजय हुई है। चौबीस-पचीस वर्ष की उम्र में जीवन

की कठोर आत्मनिरपेक्षता के सत्य को अपनाने के लिए जिस कवि ने इतनी मार्मिक व्याकुलता प्रदर्शित की है, उसके सम्बन्ध में यदि हम यह सोचें कि वह कोरा छायावादी अथवा निपट कल्पनावादी अथवा 'आत्मकेन्द्रित-प्रतिक्रियावादी' था, तो इससे अधिक अन्याय उसके प्रति और कुछ नहीं हो सकता।

रवीन्द्रनाथ पर सब से बड़ा दोष यह लगाया जाता है कि वह प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के पोते थे, और अपनी कहावत के अनुसार, चाँदी का चम्मच मुँह में लिये पैदा हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के जीवन-निर्माण में पारिवारिक परिस्थितियों का बहुत-कुछ हाथ होता है, पर यह बात किसी रूप से ध्यान में रखनी होगी कि जन्मगत संस्कार-विशेष प्रबल होने से बाह्य परिस्थितियों का अधिक महत्व नहीं रह जाता—आधुनिक विज्ञान भी अब धीरे-धीरे इस तथ्य को स्वीकार करने लगा है। रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व, जीवन और साहित्य का अध्ययन करने से वर्तमान लेखक के मन में यह विश्वास बद्धमूल हो गया है कि यदि रवीन्द्रनाथ का जन्म किसी अत्यन्त दीन-हीन परिवार में भी हुआ होता, तो उनके भीतर के आभिजात्य की सहज सुरुचि-शीलता, शान्त श्री और सुदृढ़ चारित्रिक बल में किसी प्रकार की कमी न आई होती—ठीक जिस प्रकार एक धनी परिवार में जन्म होने पर भी उनका प्रत्येक अणु-परमाणु दीन-हीन, दलित-पतित, शोषित और 'सर्वहारा' लोगों के प्रति केवल सहानुभूति ही नहीं, बल्कि एकात्मीयता के भाव से ओतप्रोत रहा है। यह अत्यन्त आश्चर्य की ही बात है, सन्देह नहीं, कि धनी परिवार में जन्म लेने पर भी पूँजीपतियों के प्रति जैसे कठोर और मार्मिक व्यंग्य उन्होंने अपनी सैकड़ों रचनाओं में किए हैं, वैसा कोई भी कट्टर प्रोलेटेरियन लेखक नहीं कर पाया। रवीन्द्रनाथ सच्चे सांस्कृतिक अर्थ में प्रगतिशील तो थे ही (यह बात उनके विरोधियों ने भी स्वीकार की है), साथ ही कट्टर साम्यवादी—मार्क्सियन—अर्थ में भी वे घोर प्रगतिवादी थे। आश्चर्य है कि इतने बड़े प्रत्यक्ष और Concrete सत्य को एक विशेष श्रेणी के साहित्यिक क्यों भुला गए? इसका प्रधान कारण संभवतः यह रहा है कि रवीन्द्रनाथ के विराट प्रतिभा-सागर में प्रगति की लहरें सब समय हिल्लोलित होते रहने पर भी उनके ऊपर का स्वप्निल फेन ही पूर्वोक्त श्रेणी के पाठकों की दृष्टि में अधिक आया है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रवीन्द्रनाथ आरम्भ से ही प्रगतिशील थे—उस समय से, जब कि मार्क्सियन सिद्धान्तों से अधिकांश यूरोपवासी भी भली-भाँति परिचित नहीं थे। तब उन्नीसवीं शताब्दी के अँगरेज कवियों का रोमान्टिसिज्म समस्त बंग-साहित्य को अपनी जूठन की बाढ़ में बहाए लिये जा रहा था। कवियों के व्यक्तिगत प्रेम से सम्बन्धित विचित्र छायावादी वेदनाओं का गान विधवा-विलाप की तरह नाना छन्दों, तालों और लयों में गाया जा रहा था। ऐसे युग में रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ। रवीन्द्रनाथ ने युग की उस भाव-धारा को अवश्य अपनाया; पर साथ ही गलित और संकीर्ण वातावरण से ऊपर उठाकर उसे ऐसा विस्तृत, व्यापक, महत् और सुन्दर रूप दिया, जो शैली-प्रमुख अँगरेज रोमान्टिक कवियों के आदर्श से बहुत ऊँचा था। किन्तु अपने उन उच्च आदर्शात्मक रोमान्टिक स्वप्नलोक की उड़ानों से भी कवि को स्वयं सन्तोष नहीं हुआ। वह शीघ्र ही समझ गया कि रोमान्टिक साधना चाहे कैसी ही सत्य-शिव-सुन्दर-मूलक क्यों न हो, वह व्यक्ति की एकान्त स्वार्थमयी साधना है। इसलिये उसके भीतर वह प्रचंड अन्तर्द्वन्द्व चलने लगा, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, वह अपनी समस्त कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक चेष्टाओं को जनता के सामूहिक कल्याण के उद्देश्य से नियोजित करने के लिए व्याकुल हो उठा।

जिस युग में रवीन्द्रनाथ उत्पन्न हुए, उसकी भाव-धारा पर यदि हम विचार करें, तो उनकी प्रगतिशीलता अत्यन्त विस्मयकर मालूम होती है। वर्तमान युग में प्रगतिशीलता एक फैशन में परिणित हो गई है, जिसके फलस्वरूप एक हीन से हीन और घोर अहंवादी तथा स्वार्थ-परायण लेखक भी शोषित अथवा 'सर्वहारा' श्रेणी के व्यक्तियों की हित-कामना ढोंग रच कर और उस 'सार्वजनीन हित' की आड़ में अपना घोर व्यक्तिवादी मनोवृत्तियों के फफोले फोड़ कर 'उच्चकोटि' के लेखकों में अपना नाम दर्ज कराने में समर्थ है--क्योंकि फीस बहुत सस्ती है। पर रवीन्द्रनाथ के समान विराट् प्रतिभाशाली कवि को युग से कुछ लेना नहीं था, बल्कि युग से विद्रोह करके एक ऐसी नई भाव-धारा का आनयन करना था, जिसे युग के ठेकेदार प्रगति नहीं, बल्कि विद्रोह समझते थे। रवीन्द्रनाथ ने अपनी सच्ची अन्तरानुभूति से प्रगतिशीलता प्राप्त की थी जो उनके कवि-हृदय की वेदना के साथ एकाकार हो गई थी। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि उनकी

वह प्रगतिशील अनुभूति जन्मजात थी, जिसे व्यक्त किये बिना उनकी आत्मा को तनिक भी चैन नहीं मिल रहा था। यही कारण था कि मार्क्सियन सिद्धान्तों के प्रचार से बहुत पहले उन्होंने अपने निम्न उद्‌गार प्रकट किए थे :—

"संसार के सब लोग प्रतिक्षण शत-शत कर्मों में रत हैं, पर तू छिन्नबन्ध और पलातक बालक के समान दोपहर के स्निग्ध, अलस वातावरण में शीतल, मन्द, सुगन्ध समीरण के मृदु-मृदु दोलन से पुलक-शिहरन का अनुभव करता हुआ एकाकी वंशी बजाने में तल्लीन है!

"अरे अभागे! तू उठ, खड़ा हो! देख, आज संसार में कहाँ-कहाँ आग लगी हुई है! जन-जन को जगाने के लिए आज किसका शंख बज उठा है, सुन! समस्त शून्यतल न जाने किसके क्रन्दन-स्वर से गूँज रहा है। न जाने किस काल-कोठरी के भीतर बन्द रह कर पृथ्वी के अनाथ नर-नारी सहायता माँग रहे हैं! स्फीत अपमान असहायों के वक्षों से रक्त शोषण करके लक्ष मुखों से पान कर रहा है। स्वार्थोद्धत अन्याय वेदना का परिहास करने पर तुला हुआ है। जितने भी संकुचित और भीत क्रीतदास इस धरातल पर हैं, वे सब आत्मरक्षा के लिये अपने को छिपा रहे हैं।

"वह देखो, वे सब असंख्य नर-नारी मौन भाव से सिर झुकाए खड़े हैं। उनके म्लान मुखों में शत-शत शताब्दियों के पीड़न की करुण कहानी लिखी हुई है। उनके कन्धों पर जितना भी भार पटका जाता है, उसे बिना किसी शिकायत के तब तक चुपचाप ढोते चले जाते हैं, जब तक उनके शरीर में प्राणों का क्षीण आभास भी वर्तमान रहता है। जब प्राण त्यागने का समय आता है, तो वे पुश्त-पुश्तों के लिए अपनी सन्तान को पशुओं के ढोने योग्य यह भार सौंप जाते हैं। न तो वे अपने भाग्य को कोसते हैं, न देवता को और न मनुष्य को इसके इसके लिये दोषी ठहराते हैं। ऐसी दशा को प्राप्त हो गए हैं वे। केवल अन्न के दो कौर पाकर अपने क्लिष्ट प्राणों को भरसक जीवित रखना ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। जब कोई गर्वित व्यक्ति या समाज उतना-सा भी अन्न उनसे छीनकर अपने निष्ठुर अत्याचार द्वारा उनके प्राणों में निर्मम आघात करता है, तो वे यह नहीं जानते कि इस महा अन्याय के विचार के लिए किसके दरवाज़े

किया और उनके मसलने के बाद जो इत्र तैयार हुआ, उसमें अपने अहंभाव की झूठी वेदना का 'व्हाइट आयल' (White oil) मिलाकर बाजार में बेचने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ कवियों ने 'व्हाइट आयल' न मिलाकर भरसक विशुद्ध इत्र का व्यवसाय किया; पर इत्र आखिर इत्र ही है, उसकी गन्ध स्थायी नहीं रह सकती। रवीन्द्र-कानन के सदा बहार जीवित कुसुमों की हरदम ताजी सुगन्धि से उसकी तुलना किसी भी हालत में नहीं की जा सकती। पर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारे कवियों ने रवीन्द्र-काव्य के विराट वन से बीने भी तो केवल ललित कुसुम! उस महावन में केवल ड्राइङ्ग रूम की सजावट को बढ़ाने वाले सुन्दर फूल ही नहीं थे, जीवन-दान करने वाले फलों की भी भरमार थी। हमारे छायावादी कवियों को यह न सूझा कि उन अमृत-फलों को तोड़ कर हिन्दी-साहित्य के अस्वस्थ और भूखे प्राणों में संजीवन-रस का संचार करें। रवीन्द्र के ललित कुसुमों की सार्थकता इस बात पर रही है कि वे प्राणपोषी फलों के रूप में परिणत होते गए; पर हमारे छायावादियों ने जो इत्र तैयार किया था, उसकी गन्ध उड़कर न जाने कहाँ विलीन हो गई!

रवीन्द्रनाथ की प्रगतिशील कविताओं की सूची इतनी लम्बी है उनका उद्धरण देते रहने से इस लेख का कलेवर अपरिमित रूप से बढ़ जायगा। केवल कविताओं में ही नहीं, उनकी अनेक छोटी कहानियों नाटकों तथा उपन्यासों में दलितवर्गीय जनता का मर्मोद्‌गार ध्वनित हुआ है। पीड़ित मानवता की वेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप को भी आश्चर्यजनक सुकुमार अनुभूति से पाठकों के आगे रखने में रवीन्द्र-नाथ ने जो कमाल हासिल किया था, वह वास्तव में अपूर्व था। अपनी छोटी कहानियों में उन्होंने मजूरों, किसानों और हरिजनों, दीन-हीन, समाज-प्रताड़ित, पतित और शोषित श्रेणी के व्यक्तियों का जैसा मार्मिक चित्रण किया है, समाज के ढोंगी और पोप-पंथी नेताओं, अकर्मण्य मध्यवित्तों और सर्वभक्षक पूँजीपतियों का जैसा घोर यथार्थ-वादी, निर्मम विश्लेषणात्मक, तीक्ष्णात्मक और तीक्ष्ण व्यङ्गपूर्ण खाका खींचा है, वह कला की दृष्टि से भी संसार-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखता। केवल गद्य-गल्पों में ही नहीं, पद्यात्मक कहानियों में भी रवीन्द्र की यह विशेषता अभिनव सुन्दरता के साथ व्यक्त हुई है। उनकी 'दुइ विघा जमि' (दो बीघा जमीन) शीर्षक पद्य-कथा

मर्मान्तस्पर्शी करुणा से पूर्ण है, वैसे ही (एक बूढ़ु जमींदार के प्रति) तीखे वाण लगे हुए सूक्ष्म व्यंग के भाव से भी झनझनाती हुई-सी लगती है। अत्यन्त सुरुचि पूर्ण किन्तु मार्मिक और निर्मम व्यंग की कला में रवीन्द्रनाथ वाल्टेयर से बहुत आगे बढ़े हुए थे। वाल्टेयर के व्यंग में गहरा विद्वेष और कुरुचिपूर्ण अहंभाव-जनित दम्भ वर्तमान रहता था; पर रवीन्द्रनाथ का व्यंग जैसे ही सुरुचिपूर्ण और संयत होता था, वैसा ही मर्मभेदी भी। उनका व्यंग हृदय को अधिक प्रभावित इसलिए करता है कि उसकी उत्पत्ति लेखक के अहंभाव से न हो कर मानवता की सहज प्रेरणा और मानुषिक कल्याण की भावना से हुई है, और साथ ही उसकी विशेषता का दूसरा प्रधान कारण लेखक का आन्तरिक सहृदयतापूर्ण कलाकौशल भी है। 'पलातका' नामक काव्य-कथा-संग्रह में बूढ़ुआ-समाज के जिन घोर यथार्थवादी चित्रों का प्रदर्शन कवि ने किया है, उनमें भी उसकी आश्चर्यमयी तूलिका के व्यंग तथा करुणापूर्ण स्पर्शों का ऐसा सुन्दर समन्वय पाया जाता है कि पढ़कर एक विकल पुलक के भाव से हृदय सिहर-सिहर उठता है। इसी संग्रह की 'फाँकी' (धोखेबाजी) शीर्षक कहानी में यह दिखाया गया है कि एक जमींदार के लड़के की तेईस-वर्षीया रुग्णा स्त्री बिनू जब हवा बदलने के उद्देश्य से अपने पति के साथ जीवन में प्रथम बार रेल की यात्रा करती है, तो बीच में एक स्टेशन में गाड़ी बदलने के उद्देश्य से उन लोगों को कुछ देर के लिये ठहरना पड़ता है। इस बीच एक अत्याचार-पीड़ित मजूर की स्त्री से बिनू की बातें होती हैं। बिनू का किशोरी संस्कार-विहीन नारी हृदय उस दुःखिनी स्त्री की जीवन-कथा सुनकर सहज करुणा के भाव से ओतप्रोत हो उठता है। जब गाड़ी का समय हो आता है, तो बिनू अपने पति से यह प्रार्थना करती है कि बाद को उस दुःखिनी स्त्री की लड़की का विवाह होने वाला है, जिसमें उसकी आर्थिक सहायता करनी चाहिये। उसका बूढ़ुआ संस्कारान्ध पति अत्यन्त उदासीनता बल्कि घृणा के साथ उसकी बातें सुनता है; पर बिनू अपनी बात पर अड़ी रहती है। इधर गाड़ी छूटने का समय हो आता है। अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये तरह-तरह के बहाने ढूँढ़ता है। कहता है कि उसके पास सौ रुपये का नोट है, वह जल्दबाजी में अभी भुनाया नहीं जा सकता। पर पत्नी कहती है कि निश्चय ही कोशिश करने से स्टेशन में भुनाया जा सकेगा, और जब तक कम से कम पचीस रुपये

उक्त स्त्री को न दिए जायँ, तब तक वह गाड़ी पर नहीं चढ़ेगी। कोई उपाय न देखकर पत्नी को वचन देकर पति मजूर की स्त्री को एक एकान्त स्थान में अपने साथ ले जाता है और उसे डाँट बताते हुए कहता है—'मैं खूब जानता हूँ कि तुम रास्ते में चलते-फिरते मुसाफिरों को ठगने का पेशा करती हो। ऐसी बदमाशी फिर करोगी, तो तुम्हें और तुम्हारे पति को नौकरी से हटा दूँगा।' यह कहकर केवल दो रुपया उसे थमा कर विदा कर देता है। इधर बिनू के पास जाकर वह कहता है कि उसने उसे पचीस रुपये दे दिये। बिनू की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। इस घटना के केवल दो ही मास बाद बिनू की मृत्यु हो गई। इस बार जब पति महाशय पत्नी से सदा के लिए विदा होकर घर की ओर लौटते हुए फिर उसी स्टेशन पर गाड़ी बदलने के लिए उतरे, तो अपनी पत्नी की अन्तिम प्रार्थना की स्मृति उनके मर्म को रह-रहकर दग्ध करने लगी। जिन पचीस रुपयों के लिये उन्होंने अपनी स्त्री को धोखा दिया था, उसके बदले आज वह पचीस हजार खर्च कर सकते हैं—यदि उसे फिर से जीवित लोक में ला सकें। पर आज यदि वह अब उस मजूर की स्त्री को एक लाख रुपया भी प्रदान करें, तो जो धोखेबाजी उन्होंने स्त्री की जीवितावस्था में की थी, उस पाप का क्षालन कैसे होगा? फिर भी उन्होंने यत्किंचित प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से उसी मजूर की स्त्री को बहुत ढूँढ़ा, पर कोई पता न लगा। वे दोनों शायद उस स्थान को छोड़ कर विषम कष्ट से कहीं चले गए थे।

जो कथानक हमने यहाँ दिया है, उससे कवि की अपूर्व रहस्यमयी तूलिका द्वारा अंकित अतलस्पर्शी करुणा और मर्मघाती व्यंग का आभास एक सहस्रांश भी नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार के अनेक चित्र रवीन्द्रनाथ ने अपनी नाना रचनाओं में—गद्य में तथा पद्य में दिये हैं।

रवीन्द्रनाथ को जो लोग आकाशी उड़ान भरने वाला कोरा रहस्यवादी या छायावादी कवि समझते हैं, उन्हें निश्चित रूप से यह बात जान लेनी चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने कभी, किसी भी हालत में शून्य से अपना सम्बन्ध न जोड़ कर मानव के रात-दिन के सुख-दुःखों से पूर्ण वास्तविक जीवन की कठोर मिट्टी से नाता जोड़ा है, यदि गहरी दृष्टि से देखा जाय, तो मालूम होगा कि उनका भी केन्द्र ठोस धरातल में ही है। उनकी 'स्वर्ग हइते विदाय' (स्वर्ग से विदाई) शीर्षक अनु-

पम सुन्दर कविता उनके जीवन की मूलगत भावना-धारा का प्रतीक है। कविता बहुत लम्बी है, और सारी कविता आदि से अन्त तक अनुवाद करने योग्य है। पर स्थानाभाव से हमें लोभ सँभालना पड़ रहा है। इस रूपात्मक कविता में कवि स्वर्ग के देवताओं और देवियों को लक्ष्य करके कहता है—"सौ लाख वर्षों तक तुम लोगों के बीच में मैंने निवास किया है, पर अब मैं पृथ्वी पर उतरने जा रहा हूँ। मैंने आशा की थी कि अपनी अन्तिम विदाई के समय तुम लोगों की आँखों में लेश मात्र अश्रु रेखा देख जाऊँगा। पर देखता हूँ कि तुम लोगों की शोकहीन और हृदयहीन सुख-स्वर्ग भूमि मेरे प्रति एकदम उदासीन है। वहाँ किसी भी कारण से अश्रुओं के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम्हारे रास-रंग मे कभी एक पल के लिए भी तनिक-सी बाधा नहीं पड़ती। तुम लोगों का यह स्वर्ग तुम्हीं को मुबारक हो। मै ऐसे स्वर्ग से बाज आया। जहाँ दुःख, करुणा और समवेदना के लिए कोई स्थान नहीं है; जहाँ दीन-दुःखियो की कोई पूछ नही है। मेरी मातृभूमि जो मर्त्यलोक है, वहाँ यह बात नही है। वह समस्त क्षुद्र-क्षीण, दीन-हीन और पापी-तापी जनों को उत्सुक आलिंगन से अपने कोमल वक्ष में बाँधने के लिये सब समय आतुर रहती है और अपनी स्नेहमयी धूलि-स्पर्श से व्यथित प्राणों में पुलक का संचार करती है। तुम्हारे स्वर्ग में अमृत की वर्षा होती रहे, पर हमारी मर्त्यभूमि में अनन्त सुख-दुःख से मिश्रित प्रेम-धारा का अविरल प्रवाह जारी रहे, और अश्रु जल से हमारे भूतल के अनेक छोटे-छोटे स्वर्ग खड सदा हरे-भरे बने रहे—यही प्रार्थना है।

"हे मेरी दीना हीना, दुःख कातर जननी मर्त्यभूमि! आज फिर बहुत दिन बाद मेरा हृदय तेरे लिए रो उठा है। यह स्वर्ग-लोक अलस कल्पना की छाया-छवि के समान न जाने कहाँ विलीन हो गया है। मैं जानता हूँ कि ज्यों ही मैं तेरे प्रांगण में प्रवेश करूँगा, त्यों ही तू दोनों बाँह से मुझे जकड़ लेगी, और अपने दुःख-सुख और भय पूर्ण प्रेम-जगत में, अपने पुत्रों और कन्याओं के बीच में चिर-परिचित के समान मेरा स्वागत करेगी।"

इस कविता से कवि की अन्तर्वेदना ध्वनित होती है कि अपने जन्मगत वातावरण के फलस्वरूप उसमें बुद्धि-विलास के स्वर्गीय छाया-लोक मे निरन्तर उड़ान भरते हुए एक अलस [illegible]

शिथिल हयेछे बाहु-बन्धन ?
मदिरा-विहीन मम चुम्बन ?
जीवन कुंजे अभिसार-निशा आजि कि हयेछे भोर ?
भेंगे दाओ तबे आजिकार सभा
आनो नवरूप, आनो नवशोभा,
नूतन करिया लहो आरबार चिर-पुरातन मोरे।
नूतन विवाहे बाँधिबे आमाय नवीन जीवन-डोरे ॥"

—'हे मेरे प्राणेश! आज क्या मेरे जीवन का सब कुछ समाप्त हो चला है?–जितनी शोभा थी, जितना गान था, जितनी प्राण-शक्ति थी, जागरण और निद्रा की जो रात्रियाँ थीं, वे सब निःशेष हो गईं मेरा बाहु-बन्धन क्या आज शिथिल हो गया है? मेरा चुम्बन क्या आज मादकता-रहित हो चला है? मेरे जीवन-कुंज की अभिसार-निशा क्या आज नव-प्रभात के प्रकाश में विलीन हो गई है! अच्छी बात है, आज की सभा भंग कर दो और फिर से नया रूप और नई शोभा लाकर मुझे अलंकृत करो। मुझ चिर-पुरातन को फिर एक बार नए रूप में ग्रहण करो और नये जीवन डोर से उसे नये विवाह के बन्धन में बाँध लो!"

इस रूपक से स्पष्ट ही यह भाव ध्वनित होता है कि कवि युग-युग की प्रगति को सरल-रेखान्वित नहीं, बल्कि वृत्तानुक्रमिक (Cyclic) मानता है। इसलिये वह जब नवीन को पूर्ण हर्षोल्लास के साथ अपनाने जा रहा है, तो यह बात नहीं भूला है कि चिर-पुरातन ही नवीनतम वेश में उसके सामने प्रकट हुआ है। एक दूसरी कविता में कवि ने लिखा है कि "नूतनेर माझे तुमि पुरातन से कथा जे भूले जाइ!"—हम लोग अपने अज्ञानवश यह महत्त्वपूर्ण बात भूल जाते हैं हैं कि 'नूतन' के बीच में सदा 'चिर-पुरातन' निवास करता है।

यह बात यथाशक्ति वर्तमान लेख में प्रमाणित की जा चुकी है कि 'चिर-पुरातन' के मूल केन्द्र को पकड़े रहने पर भी किसी नूतन और प्रगतिशील भाव को अपनाने के लिये रवीन्द्र सदा सर्वदा पूर्ण प्राण-शक्ति से तैयार रहे हैं। अपने जीवन में वे प्रत्येक क्षेत्र के प्रगतिशील आन्दोलन के अग्रणी रहे हैं। शरच्चन्द्र ने अपने उपन्यासों में पतिता नारियों के जीवन को मानवता के प्रकाश में लाकर उसे महिमान्वित करने के प्रयास में कैसी सफलता पाई है, यह बात किसी साहित्य-प्रेमी

से छिपी नहीं है। पर पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इस प्रगतिशील भावधारा के अग्रदूत भी रवीन्द्रनाथ ही रहे हैं। अपनी 'पतिता' शीर्षक सुप्रसिद्ध और दीर्घ कविता में उन्होंने पतिता के अंतर के मानवत्व का जो जय-गान गाया है, वह संसार-साहित्य की एक अपूर्व चीज है। 'सती' शीर्षक कविता में तो उन्होंने उग्र से उग्र प्रगतिवादियों के भी कान कतर डाले हैं। इस कविता का अनुवाद यहाँ पर देने का लोभ मैं नहीं त्याग पाता हूँ :—

"सती लोक में न जाने कितनी ऐसी पतिव्रताएँ वास करती हैं, जिनकी कथाएँ पुराणों में उज्ज्वल रूप से वर्तमान हैं। उनके अतिरिक्त और भी लाखों अज्ञातनामिनी, ख्यातिहीना, कीर्तिहीना सतियाँ वर्तमान रही हैं। उनमें से कोई राजमहलों में रहती थीं, कोई पर्णकुटियों में; कोई पति का प्रेम पाकर सुखी थी और कोई अनादर तथा अवज्ञा में अपना जीवन बिताती थीं। (निष्काम) प्रेम की धारा बहाकर और अपना नाम मिटाकर वे मौन भाव से मर्त्यलोक से सती लोक में प्रवेश करती रही हैं।

"उन्ही सतियों के बीच में पतिता रमणियाँ भी हैं, जो मर्त्य में कलंकिनी समझी जाती हैं, पर स्वर्ग में सती शिरोमणियों के रूप में विराज रही हैं। उन्हें देखकर सती-गर्व से गर्विणी स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेती हैं। उनकी वार्ता तुम लोग क्या समझोगे ? केवल अन्तर्यामी ही उनके सतीत्व की गाथा से परिचित हैं।"

यह कविता प्रायः पैंतालीस वर्ष पहले लिखी गई थी। इसके प्रकाशित होने पर कट्टर पतिव्रतावादियों में बड़ा तहलका मच गया था। पर जिस कवि की अपने जीवन-देवता से यह प्रार्थना रही है कि "मेरी जबान में सत्य कथन तीखी तलवार की तरह चमक उठे," वह कट्टर, पतिव्रतावादी, जड़ और वृद्ध-समाज के भय से भीत नहीं हो सकता था। किन्तु इस एक कविता से यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिये कि रवीन्द्रनाथ उच्छृंखलतावादी थे। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की सचाई पर उन्होंने जितना महत्व आरोपित किया है, उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो। पर वे चाहते थे कि सचाई आन्तरिक हो और दोनों ओर से रहे, और नारी पर बल पूर्वक सतीत्व का सामाजिक बन्धन आरोपित न किया जाय। आदर्श और कवित्वमय 'स्वर्गीय' प्रेम की अनुभूति रवीन्द्रनाथ के भीतर वर्तमान

नहीं थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर इस कारण उन्होंने पार्थिव प्रेम की अवज्ञा कभी नहीं की। बल्कि उन कवियों के साथ उनका सदा विरोध रहा, जो स्त्री-पुरुष के प्रेम को केवल देवलोक की चीज समझते थे। अपनी 'वैष्णव कविता' शीर्षक कविता में उन्होंने वैष्णव कवियों द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण के प्रेम की विशुद्ध आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट करते हुए यह प्रश्न किया है कि "क्या उस (वैष्णव) संगीत-रस की 'स्वर्गीय' धारा इस दीन मर्त्यलोक के निवासी नर-नारियों की प्रतिदिन और प्रतिरात्रि की तप्त प्रेम-तृष्णा का निवारण नहीं कर सकती ?" यदि ऐसा है, तो कवि की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। रवीन्द्रनाथ कट्टर मानववादी थे। देवत्व का पाठ पढ़ाने वालों के वे जितने विरोधी थे, उतने ही विरोधी वे 'पशुओं से प्रेम कला सीखने' की शिक्षा देने वालों के भी थे।

यह लेख मैंने विशेष रूप से अपने प्रगतिशील मित्रों का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से लिखा है। मेरे कुछ मित्रों ने मुझसे यह यह प्रश्न किया है कि सच्ची प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में मेरा आदर्श क्या है ? उनके आगे मैं प्रगतिशील रवीन्द्रनाथ का उदाहरण पेश करना चाहता हूँ। हिन्दी के वर्तमान प्रगतिवादी साहित्यिकों का जो विरोध मैंने किया है, वह इसलिए नहीं कि मैं नवीन और प्रगतिशील भाव-धारा का प्रतिपक्षी और घिसी कला और संस्कृति का अनुचर हूँ। मेरा विरोध केवल इस बात को लेकर रहा है कि अपने यहाँ के अधिकांश प्रगतिपंथी लेखकों तथा कवियों में मैंने 'मानवता' की पोशाक में केवल अहंभाव का पोपलापन पाया है—नूतन को केवल युग के फैशन के लिए अथवा अपने गुट अथवा व्यक्तित्व के प्रचार के लिए अपनाने की प्रवृत्ति पाई है। यही कारण है कि न प्रगतिपंथी कवियों की कविता में कोई कला है, न उनकी दूसरे प्रकार की रचनाओं में कोई प्राण शक्ति। ऐसा कहते हुए मुझे बहुत दुःख हो रहा है, क्योंकि मैं आन्तरिक हृदय से यह चाहता हूँ कि हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य चमके और एक स्वस्थ, सबल और सुन्दर नया आदर्श जनता के आगे रखने में समर्थ हो। मुझे यह आशा भी है कि वह दिन निकट है, जब प्रगति का आन्दोलन एक सच्चा और समुन्नत आदर्श हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखने में सफल होगा, क्योंकि दो-चार व्यक्ति ऐसे वर्तमान हैं, जो आन्तरिक सहृदयता और सच्ची लगन से इस

ओर पाँव बढ़ा रहे हैं। पर अभी इस क्षेत्र में ऐसे साहित्यिक पंचम-स्तम्भियों की भरमार है, जिनका उद्देश्य केवल आग फूँककर तमाशा देखने और अपनी अहम्मन्यता की पूर्ति करने का है। रवीन्द्रनाथ की प्रगतिशीलता उनकी आजन्म साधना का फल थी, जन-जन के सामूहिक कल्याण की वेदना को उन्होंने अपनी सच्ची अन्तरानुभूति से प्राप्त किया था, इसी कारण उनकी प्रगतिशीलता प्राण शक्ति से ओतप्रोत है और उनकी कला सजीव और मार्मिक सत्य के स्पन्दन से प्रति पल फड़कती रहती है। रवीन्द्रनाथ ने 'अशेष' कर्मलोक की चिर-जाग्रत देवी से यह प्रश्न किया है :—

"रक्त दिये की लिखिबो ? प्राण दिये की शिखिबो ?
'की करिबो काज ?'

—'मुझे आज्ञा दो कि अपने रक्त से मुझे क्या लिखना होगा, और अपने प्राण देकर मुझे क्या सीखना होगा ?'

वास्तव में उन्होंने जो कुछ लिखा अपने रक्त से ही लिखा, और जो कुछ सीखा अपने प्राणों के निष्ठुर पीड़न द्वारा ही सीखा। हमारे साहित्यिकों को यह बात सदा ध्यान में रखनी होगी कि साहित्य साधना के समान कठोर साधना दूसरी कोई नहीं है, और कुछ लोगों के वार्तालापों से युग की प्रगति के सम्बन्ध में दो-चार छुटपुट बातें सीखकर साहित्य-क्षेत्र में कूद-फाँद मचाने से कोई भी व्यक्ति सच्चा साहित्यक नहीं बन सकता।

प्रेमचन्द जी की कला और उनका मनुष्यत्व

जब प्रेमचन्द जी ने पहले-पहल हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया था तब मैं एक स्कूली लड़का था पर तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सभी साहित्यिक बातों के सम्बन्ध में खासी जानकारी रखता था। उन दिनों प्रेमचन्द जी की कहानियाँ अक्सर 'सरस्वती' में निकला करती थीं। उस युग में हिन्दी कहानियों की जो मिट्टी खराब की जा रही थी उसे देखते हुए मेरे आश्चर्य और हर्ष का ठिकाना न रहा। जब मैंने देखा कि अकस्मात् एक ऐसे लेखक का आविर्भाव हुआ है जिसके भाव, भाषा और शैली में निरालापन और चमत्कार के अतिरिक्त एक ऐसी विशेषता वर्तमान है जो अपनी सहृदयता से बरबस पाठक के हृदय को मोह लेती है तब से मैं जिस किसी भी पत्र में प्रेमचन्द जी कहानी छपी हुई पाता उस पर भुक्खड़ की तरह झपट पड़ता।

शीघ्र ही प्रेमचन्द जी की कहानियों के दो संग्रह निकले—'नवनिधि' और 'सप्त-सरोज'। जहाँ तक मुझे याद है, 'नवनिधि' की कहानियाँ अधिकांशतः ऐतिहासिक थीं। तथापि उनका विषय-निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर वास्तव में चकित रह जाना पड़ता था और उनमें भावों की खूबियाँ ऐसे अच्छे ढंग से व्यक्त की गई थीं कि कोई पढ़कर मुग्ध हुए बिना न रह सकता था। मैंने इस पुस्तक को अपनी स्कूली अवस्था में कम से कम बारह बार पढ़ा होगा इसके बाद 'सप्त-सरोज' नामक संग्रह मेरे देखने में आया। इस संग्रह ने हिन्दी के कहानी-साहित्य में एक पूर्णतः अभिनव युग की सूचना दी। इसमें आधुनिक विश्व-साहित्य की कहानी-कला के 'टेकनीक' के पूर्ण प्रदर्शन के अतिरिक्त अन्तस्तल में प्रवेश करने वाली मार्मिक गहनता तथा सरल स्पष्ट वास्तविकता के 'बैकग्राउण्ड' में प्रतिफलित होने वाली स्निग्ध सुन्दर सहृदयता की अपूर्व मनोहर अभिव्यंजना हृदय में एक मधुर वेदना की गुदगुदी-सी पैदा करती थी। प्रायः बीस वर्ष पहले मैंने 'सप्त-सरोज' की कहानियाँ पढ़ी थीं और एक ही बार उन्हें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था; तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानियाँ मेरे स्मृति-पटल में अत्यन्त उज्वल

तथा सुस्पष्ट रूप से अङ्कित हैं। 'सौत' 'बड़े घर की बेटी', 'पंच-परमेश्वर' आदि कहानियाँ साहित्य-संसार में सदा अमर होकर रहेंगी। ऐसी सुन्दर छोटी कहानियाँ हिन्दी में न उस युग के पहले कभी लिखी गई थीं, न उसके बाद ही कोई ऐसी कहानी मुझे पढ़ने को मिली जिनमें 'सेन्टीमेंट' और सहृदयता का ऐसा अच्छा सामञ्जस्य पाया जाता हो।

इसके बाद 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। उस युग के हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में वह निर्विवाद रूप से युगान्तरकारी रचना थी। उसमें पात्रों के सुन्दर चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक स्वसंवेदना के साथ अभिव्यक्त की गई थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नई अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के शायद तीन-चार वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। इस बीच साहित्य और कला के सम्बन्ध में मेरे विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन और विवर्तन हो गया था। प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उलटी-सीधी गति से सञ्चलित हो रही थी। अतएव मैं ऐसी मानसिक अवस्था में जब प्रेमचन्द जी का 'प्रेमाश्रम' दीर्घ छः सौ पृष्ठव्यापी विस्तृत तथा विशालकाय आकार में प्रकाशित होकर सामने आया तो मैं अपने 'फेवरिट' लेखक की इस नई कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढ़ने लगा। पर मुझे खेद हुआ जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के अनुरूप न पाई। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराट् रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में जवानी उम्र का नया खून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना-प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रान्तिकारी बवण्डर मचा था, उससे उस युग के पाठक भली-भाँति परिचित हैं। आज मैं अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ। पर यदि विचारपूर्वक

उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रान्तिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।

प्रेमचन्दजी की कला के सम्बन्ध में यह कड़वी धारणा मेरे मन में कुछ समय तक रही। पर मैं उनकी प्रतिभा के वृहद् रूप पर बराबर जोर देता चला आया—मैंने उसे कभी अस्वीकार नहीं किया। १६२७ में जब प्रेमचन्द जी 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे तो उनसे मैं लखनऊ में प्रथम बार मिला। उनके दर्शन मात्र से ही मैं सहम-सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगंभीर और शान्त आँखें, मोटी भौंहें और बड़ी-बड़ी मूछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। जहाँ तक मुझे याद है, रवीन्द्रनाथ ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में कहा था कि यद्यपि वह अपने बाल्य-जीवन में पूरे बंगाली थे और बंगालियों के प्रति उनके मन में पूर्ण सहानुभूति थी तथापि अपने अन्तर्जीवन में वह एकदम अ-बङ्गाली थे और अपने सतेज व्यक्तित्व तथा उदार सदाशय स्वभाव के कारण वे स्वजातीयों से पूर्णतः भिन्न जान पड़ते थे। प्रेमचन्द जी को देखते ही मेरे मन में वही धारणा जम गई। मैंने युक्तप्रान्त में अपने परिचित प्रतिष्ठित मित्रों से उनमें एक विशिष्ट विभिन्नता पाई। जार के युग में नाना कड़वे अनुभवों से निष्पेषित प्रताड़ित तथा प्रपीड़ित रूस के प्रतिभाशाली मनीषियों के अतल व्यापी अव्यक्त विक्षोभ की सघन गहनता उनके व्यक्तित्व में लक्षित होती थी। यदि गौर किया जाय तो प्रेमचन्द जी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्याकृतियों में भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के फोटो उठाकर दोनों का व्यक्तित्व मिलाकर देखिये। आप हैरत में पड़ जायँगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता तथा संस्कृति में मूलतः भिन्नता होने पर भी दोनों देशों के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुखाकृतियों में प्रकट होने वाले व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पाई जाती है।

केवल बाह्य समता ही नहीं, गोर्की और प्रेमचन्द जी के भीतरी व्यक्तित्व में भी कुछ कम समता नहीं पाई जाती। जिस प्रकार गोर्की ने दलित मानवता के सुख-दुःखों का वास्तविक अनुभव प्राप्त करके अपनी उस सच्ची महत्वपूर्ण तथा समवेदनामूलक अनुभूति को अपनी क्रियात्मक रचनाओं में अत्यन्त सुन्दर रूप से कलात्मक परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया, उसी प्रकार प्रेमचन्द जी ने भी भारत की पिष्ट निर्यातित निःशोषित तथा उपेक्षित ग्रामीण जनता की आत्मा से अपनी अन्तरात्मा का पूर्ण संयोग संघटित करके उसका यथार्थ चरित्र चित्रित करके अपनी कलामयी अनुभूति का परिचय दिया है।

यद्यपि सामयिक पत्रों में प्रेमचन्द जी की कला-सम्बन्धी धारणा से मेरा मतभेद कुछ कड़े रूप में व्यक्त हो चुका था, पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने अपनी बातों में किसी सामान्य संकेत से भी यह बात प्रकट न होने दी कि मेरे विचारों से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मन में किसी प्रकार का द्वेष-भाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में उन्होंने कुछ संकोच के साथ बातें अवश्य कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही सम्भव हुई थी। उस दिन से मेरा हृदय प्रेमचन्द जी के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से झुक गया। हिन्दी के बहुसंख्यक साहित्यिकों में विचार-विभिन्नता के कारण जो पारस्परिक असहनशीलता व्यक्तिगत रागद्वेष के रूप में अत्यन्त संकीर्णतापूर्वक व्यक्त होती रहती है, उसका लेश भी मैंने प्रेमचन्द जी में नहीं पाया। उनके साथ घंटे भर की बातचीत से मैं समझ गया कि हम दोनों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धाराएँ दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई हैं। तथापि इस कारण से हम दोनों की मूलात्माओं के सम्पूर्ण सहयोग तथा समवेदनात्मक अनुभूति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया।

इसके बाद प्रेमचन्द जी से मैं केवल एक बार थोड़े समय के लिए मिल पाया था। पर उनके प्रति श्रद्धा का जो भाव मेरे मन में एक बार जम गया था वह स्थिर रहा और सदा अमिट होकर रहेगा।

जनता प्रेमचन्द जी को केवल एक ऊँचे दर्जे के कलाकार के रूप में जानती है, पर कला के अतिरिक्त उनमें मनुष्यत्व कितना अधिक था, इस बात से बहुत कम लोग परिचित हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन दलितात्माओं के निर्यातन का निदर्शन किया है, उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी. वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन में व्यवहारिक रूप में प्रकट करके हमारे कलाकारों के लिए एक महत् आदर्श छोड़ गये हैं। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यहीं पर है। उन्होंने अपने जीवन में जिन कष्टों का अनुभव किया उससे उन्होंने दूसरे पीड़ितों को यथार्थ रूप में समझने में सहायता पाई, और केवल समझ कर ही वह चुप नहीं रहे, बल्कि अपनी घोर आर्थिक संकट की दशा में भी वह समय-समय पर सङ्कटापन्न परिस्थिति में पड़े हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को यथा-सामर्थ्य व्यावहारिक सहायता पहुँचाने के लिये सदा उद्यत रहते थे, ऐसा मैंने सुना है। हिन्दी की साहित्यिक मंडलियों के घोर स्वार्थ-पूर्ण वातावरण की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए जब मैं प्रेमचन्द जी के इस उदार मनुष्यत्व की सदाशयता पर विचार करता हूँ तो मेरे हृदय में विह्वल श्रद्धा गद्गद् होकर उमड़ उठती है।

नवीन लेखकों के प्रति निवेदन

हिन्दी के नवीन लेखकों के आगे मैं अपने साहित्यिक जीवन के अनुभवों के आधार पर कुछ सुझाव पेश करना चाहता हूँ जो संभवतः उनके लिये कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकें।

वर्तमान युग के तरुण साहित्यिकों के आगे बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। एक ओर उन्हें परंपरागत घरेलू तथा स्कूली शिक्षा का अनुसरण करने को बाध्य होना पड़ता है, दूसरी ओर युग इस तेजी से प्राचीन परम्पराओं की ऊँची-ऊँची अभेद्य दीवारों को तोड़ता और लाँघता हुआ दुर्दमीय रूप से आगे को बढ़ा जा रहा है कि उसका साथ देने के लिये एकदम नई स्फूर्ति नये उत्साह की आवश्यकता है, वर्ना जो साहस की कमी के कारण और आलस्य वश पीछे पड़े रहेंगे वे न इधर के रह जायेंगे - उधर के। इसलिये नये लेखकों को मैं यह सलाह दूँगा कि वे अपनी परंपरागत शिक्षा तथा संस्कृति के भीतर से केवल स्वास्थ्यकर तथा बलप्रद चीजों का ग्रहण करके उन्हें युग की नई मिट्टी में रोपें और निरन्तर प्रगति तथा विकास की ओर बढ़े चलें। वर्तमान युग की अस्तव्यस्तता और गड़बड़-झाला के भीतर से उभरी हुई मानवता तथा परंपरागत सभ्यता जीवन की घोर स्वार्थमूलक भावनाओं और प्रवृत्तियों के रङ्ग से रङ्गी गई केंचुली को फेंक कर नये-रङ्ग-ढंग और नवीनतम आदर्शों के साथ हमारे सामने स्पष्ट से स्पष्टतर रूप में आती जाती है। उसको अंधविश्वासों की जंजीरों से फिर से बाँधे रखने की चेष्टा निश्चित रूप से हास्यास्पद और आत्म-विनाशकारी सिद्ध होगी।

पर साथ ही नये लेखक को एक और खतरे से बच कर रहना होगा। 'आधुनिक विचार-धारा' के नाम पर जो बहुत सी गन्दी, अस्वास्थ्यकर, अपच और सड़ायँध उत्पन्न करने वाली चीजें आए दिन हिन्दी साहित्य-जगत में बहुत दिनों से तहखानों में दबाये हुये बिच्छुओं, साँपों और कनखजूरों की तरह कुलकुलाती हुई मिट्टी के भीतर से बाहर निकल पड़ी हैं उनसे हर हालत में उन्हें अपनी रक्षा करनी होगी। पृथ्वी के भीतर केवल विनाशकारी विषैले जीव अथवा

विपैली गैसें ही नहीं हैं, उसकी अनन्त गहनता के भीतर विश्वव्यापी जीवन को प्राणदायक ताप पहुँचाने वाली अग्नि भी है, जिसके बिना सारा जीवन-जगत पल में निष्प्राण हिम पिंड के रूप में परिणित हो सकता है, उसकी प्राण-वाहिनी अन्तर्नालियों में उष्ण और शीतल जल के अनन्त स्रोत भी हैं, जिनके बिना जीवन सूखे रेगिस्तान में परिणत हो जायगा और केवल असीम बालुका राशि की 'हा हा हा हा' स्वर में चिरकाल तक श्मशान की राख की तरह चारों ओर बिखरता रहेगा। इसलिए इस तुमुल संघर्ष-विघर्ष, क्रान्ति तथा विस्फोट के युग में नये लेखक को चाहिये कि वह आग से तथा दूसरे विनाशकारी तत्वों से खेलने के लोभ में तब तक न पड़े जब तक वह ध्वंस के भीतर से नये और स्वास्थ्यकर जीवन के बीजों को न पा जावे। केवल सनसनी के लिये आग से खेलना घोर घातक है।

नये लेखकों को अपने साहित्यिक जीवन पथ में ऐसे बहुत से दल, गुट अथवा व्यक्ति मिलेंगे जिनका सच्चे साहित्य और कला से कोई सम्बन्ध नहीं है, और साहित्य-क्षेत्र को केवल अपनी पटचकी कला-बाजियों के प्रदर्शन के लिये उपयुक्त अखाड़ा समझते हैं। नवीन लेखकों को पग-पग पर ऐसे दलों अथवा व्यक्तियों के सम्पर्क से अपनी रक्षा करनी होगी। नहीं तो प्रारम्भ से ही वे साहित्य-यात्रा के दीर्घ पथ में भटकते रह जावेंगे और अपने उच्च लक्ष्य तक पहुँचने के बहुत पहले ही समाप्त हो जावेंगे। उन्हें अपने सच्चे विश्वासों के बल पर केवल अपने ही दो पाँवों के सहारे निरन्तर बढ़े चलना होगा। किसी गुट, दल और महत्वकांक्षी व्यक्तियों का सहारा पकड़ कर चलने की आवश्यकता जहाँ महसूस हुई नहीं कि तत्काल समझ लेना चाहिये कोई बड़ी भारी कमी अपने भीतर आ गई है; और उस पराश्रयोन्मुखी प्रवृत्ति को खतरे की घन्टी समझ कर उसी दम दुगने उत्साह से अपने आत्मबल को नये सिरे से जगाना चाहिये। यह बात सदा के लिये स्मरण रख लीजिये कि जो लेखक स्वयं अपने दो पैरों पर खड़े होकर आगे बढ़ने की ताकत नहीं रखता, जिसमें आत्मविश्वास की इतनी कमी है कि दूसरों का सहारा पकड़े बिना एक कदम आगे नहीं चल पाता वह कभी श्रेष्ठ और सच्चा साहित्यिक नहीं हो सकता। साहित्यिक गुटों अथवा दलों का सहारा पकड़ने में इतना हो सकता है कि कुछ समय तक साहित्यिक-जगत में आप के नाम का प्रचार बड़ी तेजी से हो जाय पर यह बात कभी न भूलिये कि जो ख्याति बिना किसी वास्तविक

आत्म-प्रदर्शन के केवल गुटों अथवा साहित्यिक नामधारी कुचक्रियों के कुप्रचार के फलस्वरूप प्राप्त होती है, वह स्थाई रूप से कभी ठहर नहीं सकती और उसकी अस्थाई अवस्था में भी उसके भीतर का पोपलापन समझदारों से छिपा नहीं रहता।

सस्ती ख्याति प्राप्त कर लेने के लोभ से कभी साहित्य के महान् प्रांगण में पैर रखने की इच्छा नहीं होनी चाहिये। इस लोभ से जो व्यक्ति साहित्य-जगत में प्रवेश करेगा वह केवल साहित्य का ही नहीं, अपना भी अहित करेगा। प्रचार के बल पर आगे बढ़े हुये व्यक्ति का पतन अवश्यम्भावी होता है। और वह पतन भी अत्यन्त दयनीय होता है।

नये लेखकों को चाहिये कि इस नीति को वे सदा के लिये गांठ बांध लें 'Honesty is the best policy' अर्थात् 'ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है'। ईमानदारी अपने आप में एक महत्वपूर्ण गुण है ही पर साथ ही दृष्टिकोण में भी सब से उत्तम है। पर विश्वास जहां एक बार किसी लेखक के हृदय में घर कर लेता है, फिर वह जीवन भर कर्तव्य-पथ से डिगने नहीं देता। इस विश्वास से युक्त व्यक्ति जीवन में न किसी गुट के फेर में पड़ता है; न ज्ञान-गर्व दुर्विदग्ध आलोचकों की विध्वंसात्मक बातों से घबराता है न उसे सुदीर्घ काल तक इस बात का अधैर्य होता है कि वह अपने साहित्यिक जीवन में कोई ख्याति प्राप्त न कर सका। यह विश्वास उसे अटल धैर्य देता है कि यदि उसकी रचनाओं में सच्चाई और गहराई होगी तो युग की राख कुचक्रियों की निन्दात्मक आलोचनाओं अथवा अवज्ञापूर्ण उक्तियों के रूप में उसके महत्व पर चाहे कितना ही क्यों न ढकती चली जावे, वह निश्चय ही किसी न किसी समय सत्य की प्रबल आंधियों द्वारा उड़-उड़ कर अनन्त शून्य में विलीन हो जायगी। और सचाई का वास्तविक रूप जनता के सामने प्रकट हुए बिना न रहेगा।

तरुण लेखकों को एक बात और ध्यान में रखनी होगी। वह यह कि केवल पुस्तकगत अध्ययन और युग के फैशन के ज्ञान के बल पर लेखक बनने की इच्छा मन में न रखें। जब तक जीवन के सच्चे और और गहरे अनुभवों के लिखने की प्रेरणा नहीं मिलती-तब तक सब बेकार सिद्ध होगा। उच्च कोटि की पुरानी या नई सभी प्रकार की पुस्तकों के अध्ययन का महत्व मैं स्वीकार करता हूँ, पर उससे कहीं

गुना महत्व मैं वास्तविक जीवन के अध्ययन को देता हूँ। जब तक कोई लेखक प्रति पल प्रति पग पर व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की यथार्थता का अध्ययन मनन और चिंतन करने का अभ्यास नहीं डाल लेता तब तक उसे किसी भी विषय पर गम्भीरतापूर्ण विचार प्रकट करने का सच्चा अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। आज-कल गुरु-गंभीर विषयों की विदेशी पोथियों के अध्ययन के बल पर कोई भी छात्र बड़ी आसानी से भारी-भरकम बातें लिख कर पत्र-पत्रिकाओं में छपाने की योग्यता रख सकता है। पर इस तरह की अंतरानुभूति से रहित पालिश की हुई झूठी बातें कभी पाठकों के मर्म के भीतर प्रवेश नहीं पा सकतीं। केवल वे ही बातें पाठकों के हृदयों पर स्थाई प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती हैं जो कठोर जीवन के वास्तविक अनुभवों की चोटों के फलस्वरूप दीर्घ साधना द्वारा लेखक के अन्तर से व्यक्त हुई हों।

यह निश्चित है कि वह चोरों, जुआरियों, शराबियों वेश्याओं और व्यभिचारियों के जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से परिचित था। वास्तव में उसकी यह घनिष्ठता उस हद तक रही होगी कि उन लोगों के बीच में उसने अपने जीवन का काफी बड़ा भाग बिताया होगा। 'मृच्छकटिक' के विभिन्न हीन कोटि के पात्रों के कथोपकथन में जो परिपूर्ण स्वाभाविकता पायी जाती है, उसे किसी पुस्तकगत अनुभव या ज्ञान के आधार पर व्यक्त कर सकना संभव नहीं। द्वितीय अंक में जुआरियों के जीवन का जो मनोरंजक किन्तु मार्मिक वर्णन किया गया है और तीसरे अंक में चौर्यकला का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वे किसी अनाड़ी अथवा अनुभवहीन लेखक के कोरे कल्पना-चित्र नहीं हो सकते।

रचयिता

इस यथार्थवादी नाटक का रचयिता ठीक कौन था और वह कब उत्पन्न हुआ था, यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद रूप धारण किए हुए है। नाटक की प्रस्तावना में कहा गया है कि किसी जमाने में शूद्रक नाम का एक सर्वगुण-सम्पन्न राजा रहता था। जब उसकी आयु के १०० वर्ष और १० दिन पूरे हुए तब उसने एक अश्वमेध यज्ञ संपन्न करके अग्नि में प्रवेश किया और इस प्रकार अपनी इहलीला समाप्त की। उसी राजा ने इस नाटक की रचना की थी।

यह सूचना सूत्रधार मंच पर देता है। इस पर टीकाकार का कहना है कि नाटककार शूद्रक ने स्वयं अपनी मृत्यु की घटना को भूतकालीन बताया है और वास्तव में उसने भविष्यदर्शिता के बल पर ऐसा किया है। पर हम साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को इस प्रकार की भविष्य-दर्शिता की बात पर सहज में विश्वास नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में दो संभावनाओं की कल्पना की जा सकती है। एक तो यह कि सचमुच शूद्रक नाम के किसी राजा ने यह नाटक लिखा होगा, उसके पूरा होकर प्रचारित होने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। बाद में उसके पुत्र के राजाश्रय-प्राप्त किसी ब्राह्मण ने उसको पूरा कर के रंगमंच में खेलने के उद्देश्य से उसका प्रचार किया होगा। दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि शूद्रक ने वह नाटक लिखा ही न हो और केवल उसकी स्मृति को अक्षय बनाये रखने के उद्देश्य से उसके

वंशज ने किसी पंडित की रचना पर अपने नाम की मुहर लगा दी हो।

नाटक का रचना-काल प्रसिद्ध संस्कृतविद् (स्टेन कोनो) जिन्होंने ईसा के पूर्व पहली शताब्दी से लेकर सन् ३०२ ई० तक के बीच का बताया है। नाटक की प्राचीनता के पक्ष में बहुत-से प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है नाटक की शैली में वह कृत्रिमता तनिक भी नहीं आने पायी है जो बाद में [illegible] पूर्ण पांडित्य के युग में, संस्कृत साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश पा गयी थी। कालिदास की रचनाओं में इस पांडित्य का प्रथम आभास हमें मिलने लगता है, यद्यपि कालिदास ने उसे एक निश्चित सीमा के आगे नहीं बढ़ने दिया था। भवभूति में उसका विकास काफी हो चला था और हर्ष में वह चरम सीमा को पहुँच गया था।

नाटक के प्रधान पात्रों में एक शकार (संस्थानक) भी है, जो पालक नामक राजा का साला है। यह मूर्ख और ओछी बुद्धि वाला पात्र रामायण और महाभारत के बहुत-से दृष्टांतों का उल्टे-सीधे रूप में उल्लेख करता रहता है। पर पुराणों में से वह एक भी दृष्टांत नहीं देता या एक भी पौराणिक पात्र का उल्लेख नहीं करता। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि जिस युग में 'मृच्छकटिक' लिखा गया था उस युग में पौराणिक गाथाओं का प्रचलन व्यापक रूप से नहीं हुआ था।

शूद्रक नामक एक सुप्रसिद्ध राजा का उल्लेख भारतीय इतिहास में मिलता है। खोजियों का कहना है कि यह राजा शकाधिपति विक्रमादित्य से पूर्व निवास करता था। इस प्रकार उसका काल ईसा के पूर्व की प्रथम शताब्दी के आस-पास बैठता है।

'मृच्छकटिक' में बौद्ध श्रमणकों का उल्लेख आया है, जिससे पता लगता है कि उस जमाने में यद्यपि हिन्दुत्व का बोलबाला था, तथापि बौद्ध भिक्षु बड़ी आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। बौद्ध भिक्षुओं के प्रति इस प्रकार की उदार भावना भी नाटक की प्राचीनता का प्रमाण है।

कथानक

नाटक की कथा इस प्रकार है कि चारुदत्त नामक ब्राम्हण, किसी समय अवंतिका (उज्जैन, नगर का बहुत बड़ा धनिक था

श०—क्यों ?

मै०—अपने दुर्भाग्य के कारण।

श० हसो मूर्ख, हंसो !

मै०—अवश्य हंसेंगे।

श०—कब ?

मै०—जब चारुदत्त का भाग्य फिर से जगेगा।

इस प्रकार के वार्तालाप से मैत्रेय के संयत व्यंग के भीतर छिपे हुए तीखेपन का परिचय मिलता है, जो कि साधारणतः दूसरे नाटकों के विदूषकों में नहीं पाया जाता। अपने मित्र (चारुदत्त, की दुरवस्था देख कर मैत्रेय के मुँह से कभी-कभी जली-कटी बातें भी निकल आती हैं। प्रथम अंक में जब चारुदत्त उससे कहता है कि "चौराहे पर स्थित मातृकाओं को बलि दे आओ" तब वह इस बात का स्पष्ट विरोध करता हुआ कहता है कि इन देवी-देवताओं को मानने, उनकी पूजा करने से लाभ क्या है जब उनसे कोई फल हमें प्राप्त नही होता ? इससे स्पष्ट है कि वह केवल विदूषक ही नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र विचारक भी हैं।

राज्यक्रान्ति में भाग लेनेवाले पात्र

नाटक के भीतर संवाहक नामक जुआरी, शर्विलक नामक चोर प्रेमिक, स्थावरक नामक गाड़ीवान्, वीरक और चंदन कनामक पुलिस अफसर आदि बहुत-से छोटे-मोटे पात्रों का चरित्र-चित्रण ऐसी स्वाभाविकता से किया गया है जो उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों के पाश्चात्य यथार्थवादी कलाकारों की कला को भी मात देती है। ये छोटे-मोटे पात्र नाटक की जान है। अत्यन्त हीन परिस्थियों में जीवन बिताने को बाध्य होने के कारण वे बाद में क्रान्तिकारी बन जाते हैं और तत्कालीन अत्याचारी राजा के विरोधी, आर्यक नामक जन-नेता का साथ देकर राज्य का तख्ता पलट देते हैं।

जुए के अड्डों के दृश्यों, वहाँ घटने वाली घटनाओं, जुआरियों के मनोभावों का ऐसा जीता-जागता चित्रण किया गया है जो आज भी प्रत्यक्षवत् लगता है। शर्विलक चारुदत्त के यहाँ चोरी करने के पहले चौर-शास्त्र की ऐसी सूक्ष्म बातों का विवेचन करता है कि ऐसा विश्वास होने लगता है जैसे, नाटककार स्वयं इन चोरों के साथ रह चुका हो। वेश्यालय के भीतर का वर्णन ऐसी सूक्ष्म यथार्थवादी दृष्टि से किया गया है, जो आश्चर्य में डालने वाला है। कहीं पर नर्त-

किसी सुनसान सड़क पर हुई हिंसा देखी जाती है, कहीं कोई सुन्दरी युवती राजश्याल के साथ जाना ना चाहती है, कहीं कोई अलबेली छबीली अवस्था में गाड़ी का उलटफेर पड़ गया है, कहीं गाड़ी के बदलने होकर ब्राह्मण बैठे हुए आँगन में राज-वंश की चर्चा कर रहे हैं, कहीं जुए के खेलने वालों से बच कर कोई द्यूत-कुशल जुआरी अपने उपस्थान को छोड़ भागा है, कहीं कुछ ठोकरें खाते मनुष्यों को देखने में तल्लीन हैं वहीं, किन्तु भोजनालय के भीतर मांस की पकाती हुई हड्डियां पड़ी हुई हैं; आदि-आदि । इस प्रकार का यथार्थवादी चित्रण इस युग में भी कठिनाई से मिल पाता है ।

नाटक में शृंगार, हास्य, करुणा, वात्सल्य, अद्भुत आदि विविध रसों का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण पाया जाता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है । हास्य और व्यंग्य रस के तो मृच्छकटिककार आचार्य ही हैं । यह रस नटी और सूत्रधार के वार्तालाप से ही आरम्भ हो जाता है । जब सूत्रधार नटी से पूछता है कि किस काम में व्यस्त हो ? तब वह उत्तर देती है कि आज उपवास का दिन है, उसी को सफल करने के प्रयोग में वह व्यस्त है । सूत्रधार पूछता है कि उस व्रत का क्या नाम है ?

नटी उत्तर देती है—"अभिरूपपदी (अभिरूप पति) ।" अर्थात् अभिरूप पति प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया व्रत । सूत्रधार पूछता है—"इहलौकिको अथवा पारलौकिको ?" अर्थात् इस लोक में अभिरूप पति प्राप्त करने के निमित्त है या परलोक में ? तब उत्तर मिलता है "परलोक में ।" तब सूत्रधार चिढ़ कर कहता है—"सुनें सब लोग । यह मुझ से चाहती है कि परलोक में इसे इसके मन के अनुरूप कोई दूसरा पति मिले ।"

विविध भाषाओं पर नाटककार का अधिकार भी आश्चर्यजनक है । एक नाटक के भीतर इतनी प्रकार की भाषाएं और कहीं नहीं मिलतीं । मार्मिक की बात यह है इन विभिन्न भाषाओं का प्रयोग भिन्न-भिन्न पात्रों के मुखों से अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप से किया गया है ।

कुल मिला कर यह 'मृच्छकटिक' समस्त संस्कृत साहित्य में अपने ढंग की एक निराली कृति सिद्ध होती है । नाटक के भीतर प्रस्तुत किए गये नैतिक आदर्शों के पक्ष और विपक्ष में बहुत बातें कही जा